॥ श्रीहरिः ॥

परम साधन–भाग-१



जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

परम साधन भाग-१



जयदयाल गोयन्दका

प० सा० १—१

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

सं० २०१३ से २०४९ तक	१,००,२५०
सं० २०५१ ग्यारहवाँ संस्करण	५,०००
	योग १,०५,२५०

मूल्य—चार रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
दूरभाष—३३४७२१

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

समय-समयपर 'कल्याण' में जो मेरे लेख प्रकाशित होते हैं, उन्हींमेंसे प्रायः २६वें और २७वें वर्षमें आये हुए अधिकांश लेखोंका संग्रह करके कई भाइयोंका आग्रह होनेके कारण यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। इसमें शारीरिक, भौतिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि सब प्रकारकी उन्नतिका विवेचन किया गया है, जो कि सभीके लिये लाभदायक है। इसके सिवा, भगवत्प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार बतलाते हुए सत्यपालन, निष्काम कर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, बालकों और स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा और देशकी उन्नति आदि सर्वसाधारणके लिये उपयोगी विषयोंका भी प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, शिक्षाप्रद कथा-कहानी भी दी गयी है एवं भजन-ध्यानरूप भगवद्भक्तिका विषय तो इसमें बहुत विस्तारसे दिया ही गया है; समयकी अमोलकता, साधनके लिये चेतावनी, सत्सङ्ग और महापुरुषोंका प्रभाव तथा गोपी-प्रेमका रहस्य भी बतलाया गया है और गीता-रामायणकी महत्ता एवं इनके मुख्य-मुख्य उपयोगी प्रसङ्गोंका संकलन भी किया गया है।

इन लेखोंकी बातोंको यदि पाठकगण काममें लावें तो उनका कल्याण हो सकता है और मैं काममें लाऊँ तो मेरा कल्याण हो सकता है; क्योंकि ये ऋषि, महात्मा, शास्त्र और भगवान्‌के वचनोंके आधारपर लिखे गये हैं। इनमें ऐसी-ऐसी सुगम बातें हैं, जिनको बिना पढ़े-लिखे साधारण पुरुष और स्त्री-बच्चे भी काममें ला सकते हैं।

इनमें जो त्रुटियाँ रही हों, उनके लिये विज्ञजन क्षमा करें और कृपापूर्वक मुझे सूचित करें।

विनीत—

जयदयाल गोयन्दका

नोटः—दसवें संस्करणसे प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंके सुविधार्थ दो भागोंमें विभक्त करके उसी पूर्व नामसे दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया है।

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची



॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

परम साधन

बालकोंके कर्तव्य

भारतमें आजकल बालकोंको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है ही, उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुःखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है। अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णयपर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोंके लिये सर्वथा अनुपयोगी है। त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक था। पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे हैं; क्योंकि उन महानुभावोंकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोंमें है तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमें समय खो देनेके कारण समयाभावसे और श्रद्धा, भक्ति, रुचिकी कमीसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं; अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। हमारी संतान तो इस ज्ञानसे प्रायः सर्वथा ही शून्य है और होती जा रही है। इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभचिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वर-भक्ति, माता-पिताकी सेवा, देव-पूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो। साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये। जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका

पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं हो सकता। ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामचरितमानस, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये। यदि प्रतिदिन अपने घरमें, चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, सब मिलकर इन ग्रन्थोंका क्रमसे अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्रज्ञान हो सकता है। इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र, ईश्वर और परलोकमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं। बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है। अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभिभावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्म-पालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है। ईश्वर और धर्मकी खिल्ली उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें आये हैं, चार-पाँच हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।' इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है। इसीलिये उनको धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है। आजकलकी प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है, तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमें भेज देते हैं। वहाँ धर्मज्ञानसे रहित अपरिपक्वमति तथा कॉलेजोंसे निकले हुए प्रायः

प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमें रहकर जब वह करीब सोलह वर्षका होता है तो उसे कॉलेजमें भेज देते हैं। वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है; परंतु जब वह एफ्० ए० या बी० ए० पास होकर घर आता है, तब अपने मा-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी-मजाक उड़ाता है; क्योंकि समय और श्रद्धाके अभावके कारण ऋषि-मुनियोंकी भारतीय संस्कृतिसे युक्त ग्रन्थ उसके सम्मुख नहीं आते, इसलिये वह इन सबसे अनभिज्ञ रहता है। ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृतिके लाभसे वञ्चित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा ?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंतकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञानशून्य पाये जाते हैं, यह इसी वर्तमान शिक्षाका दुष्परिणाम है। यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव हुआ चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

प्राचीन भारतीय शिष्टाचारका—जिसको हम आर्य-संस्कृति या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, पालन करनेसे हमारा इस लोक और परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है। इसीका नाम धर्म है। शास्त्रमें बतलाया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

****

अतः जिस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भारी-से-भारी विपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय न कामसे, न भयसे, न लोभसे और न जीवन-रक्षाके लिये ही धर्मका त्याग करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और इस जीवनका हेतु अनित्य है।'

धर्म ही मनुष्यका जीवन-प्राण है और इस लोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ साथ नहीं जा सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका संचय करना चाहिये। उक्त धर्मकी प्राप्ति धर्मके ज्ञाता महापुरुषोंके संगसे और उनकी अनुपस्थितिमें सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे होती है।

त्यागपूर्वक धर्मके पालनसे उसका दूसरे लोगोंपर भी बहुत अच्छा असर होता है। उसके प्रभावसे पापी पुरुष भी धर्मात्मा बन जाते हैं। राजा युधिष्ठिरका इतना भारी प्रभाव था कि वे जिस देशमें वास करते थे, उस देशमें धर्मका प्रसार, धन-धान्यकी वृद्धि और दुर्भिक्ष-महामारी आदिकी स्वतः निवृत्ति हो जाया करती थी। महाराज युधिष्ठिरका यह प्रभाव विस्तारसे देखना चाहें तो

महाभारतके विराटपर्वका अट्ठाईसवाँ अध्याय देखना चाहिये।

जो दूसरोंके साथ त्यागपूर्वक व्यवहार करता है उसके साथ दूसरोंको भी त्यागपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन त्यागपूर्ण धार्मिक शिक्षा है, उससे हमारे आत्माका कल्याण तो होता ही है, इस लोकमें भी सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है; परंतु यदि लौकिक लाभ न भी होता हो और यहाँके स्वार्थकी हानि भी होती हो पर उससे यदि हमारा परमार्थ सिद्ध हो जाता हो तो हमारे लिये वह महान् लाभकी बात है। सर्वस्व जाकर भी परमार्थ सिद्ध होता हो तो बिना विचारे सर्वस्वका त्याग कर देना उचित है; क्योंकि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्माका कल्याण है—सांसारिक भोग भोगना नहीं। आत्माका कल्याण या भगवत्प्राप्ति ही धर्म-पालनका अन्तिम फल है। अतएव हमारे बालकोंमें भगवत्प्राप्तिके हेतु इस धर्मके पालनके लिये प्रारम्भसे ही ऐसे भाव भरे जाने चाहिये। प्राचीन ऋषि-आश्रमोंमें यही हुआ करता था।

उपर्युक्त धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं। मनुष्यको चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उनको त्याग दे एवं सद्गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी एवं दुःखी अनाथ प्राणियोंकी कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ भावसे सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धा-पूर्वक सेवन करे। यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें कहना ही क्या है।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम

करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी करना, अल्प कालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता, विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, थियेटर-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' हैं।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश-शतरंज खेलना आदि सब 'दुर्व्यसन' हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान, जुआ खेलना आदि 'दुराचार' हैं।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्गुण' हैं।

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत और सेवा-पूजा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं।

इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे

****

निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तर (स्टैंडर्ड) को ऊँचा उठावें, उसका पतन न होने दें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> **उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
> **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥**
> **बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।**
> **अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥**
> (६। ५-६)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मनुष्य अपने मन-इन्द्रियोंको जीत लेता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो नहीं जीतता, वह स्वयं ही अपना शत्रु है; क्योंकि मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको रोककर दुर्गुण-दुराचारका त्याग और सद्गुण-सदाचारका सेवन करके आत्मकल्याण कर सकता है।

जिस आचरणको श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती है तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते हैं एवं हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे हैं, वही 'धर्म' है। श्रीमनुजीने कहा है—

****

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

(२ । १२)

'श्रेष्ठ पुरुष वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहते हैं ।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

(२ । ९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है, वह निःसंदेह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सर्वोत्तम सुखको पाता है ।'

अतः युवकोंसे हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो हमारा बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे बचकर अपनी आत्माको उठावें तथा इस लोक और परलोकमें हमारा परम कल्याण हो, वही आचरण करें एवं सच्चे हृदयसे लगनके साथ सभी ओरसे ऐसा प्रयत्न करें, जिसमें अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो; मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयको प्राप्त करें और अन्तमें मुक्तिकी प्राप्ति हो ।

भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके स्वरूप और उनका फल

जिससे शरीर नीरोग रहे तथा संसारमें धन, धान्य और शिल्प-विद्या आदिकी उन्नति हो, यह 'भौतिक उन्नति' है । भाव यह कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंके कार्यरूप

****

पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन्नतिको भौतिक उन्नति कहते हैं; किन्तु यह भौतिक उन्नति जब निष्कामभावसे अहिंसा, सत्य और समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे की जाती है, तभी कल्याणकारक होती है; इसके विपरीत 'अणुबम' आदिसे जनताका संहार करनेवाली भौतिक उन्नति तो भयानक और पतनकारक ही है।

जिससे हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान बढ़े, सद्गुण और सद्भावकी वृद्धि हो, अनेक प्रकारकी भाषा, लिपि और श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंका तथा व्याकरण, छन्द, ज्यौतिष, कल्प, निरुक्त, शिक्षा, गणित, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, संगीत, ललितकला आदि विद्याओंका ज्ञान हो एवं हमारी बुद्धि सूक्ष्म, तीक्ष्ण, शुद्ध और स्थिर हो, उसका नाम बौद्धिक उन्नति है; किंतु यह बौद्धिक उन्नति, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित, क्षमा, दया, उदारता, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेपर इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक होती है। इससे विपरीत संसारके संहार करनेमें संलग्न बुद्धि तो हानि और पतन करनेवाली ही है।

कुशलतापूर्वक देश और विदेशमें व्यवसायबुद्धिसे पदार्थोंका उत्पादन, निर्माण, आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय तथा कला-कौशलकी उन्नति और वृद्धि करना आदि एवं प्रत्येक व्यक्तिके साथ कुशलता और सभ्यतापूर्वक बर्ताव करना आदि 'व्यावहारिक उन्नति' है। यह 'व्यावहारिक उन्नति' झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और स्वार्थसे रहित तथा सत्य, समता, संतोष, संयम आदि गुणोंसे युक्त होनेपर मुक्ति देनेवाली है और इससे विपरीत आजकलके व्यापारकी तरह अन्यायपूर्ण होनेपर देश और राष्ट्रके लिये हानिकारक तथा आत्माका पतन करनेवाली है।

****

वर्तमानमें जाति और समाजमें फैली हुई दहेज लेने आदिकी कुरीतियाँ तथा विवाह और अन्यान्य अवसरोंपर धनका अतिशय व्यर्थ खर्च करने आदिकी फिजूलखर्चीको खतरनाक समझकर उनका सुधार करना तथा देश, जाति और समाजका उत्थान और हित करना—यह 'सामाजिक उन्नति' है।

रेल-यात्राके समय जगह रहते हुए भी अपने डिब्बेमें दूसरेको नहीं घुसने देना, तीसरे दर्जेका टिकट लेकर इंटरमें बैठ जाना अथवा इंटरका टिकट लेकर सेकंडमें सवार होना, टिकटके अनुसार नियत किये हुए परिमाणसे अधिक बोझ बिना किराया चुकाये ही ले जाना, हाकिम या पंच बनकर पक्षपात करना, व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करना और झूठे बही-खाते बनाना, सरकार और रेलवेकी उनके कर्मचारियोंसे मिलकर चोरी करना, रिश्वत आदि लेकर चोरी तथा अनैतिकतामें सहायता करना आदि सब 'नैतिक पतन' हैं। उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सबके साथ पक्षपातरहित, न्याय और समतायुक्त लोभरहित यथायोग्य व्यवहार करना—यह 'नैतिक उन्नति' है। उपर्युक्त सामाजिक तथा नैतिक बातोंका पालन यदि मान-बड़ाई आदिके लिये किया जाय तो मान-बड़ाई मिलती है और यदि कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूत और हिंसा आदि शास्त्रनिषिद्ध दोषोंसे रहित होकर यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, तीर्थ, व्रत, परोपकार, शौचाचार, सदाचार आदि शास्त्रानुकूल धर्मका श्रद्धापूर्वक पालन करना 'धार्मिक उन्नति' है। यह धार्मिक उन्नति यदि निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवत्प्राप्त्यर्थ हो तो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली है तथा यदि

सकामभावसे की जाय तो इस लोक और परलोककी कामनाकी पूर्ति करनेवाली है।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्याय करना, विवेक-वैराग्यपूर्वक संसारके विषयभोगोंसे मन और इन्द्रियोंका संयम करना, निष्कामभावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना, सख्य, दास्य आदि भावोंसे भगवान्‌की उपासना करना, भगवान्‌की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति-प्रार्थना करना, कथा-कीर्तन करना, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप अष्टाङ्गयोगके द्वारा तथा अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मको यथार्थरूपमें जाननेका साधन करना आदि सब 'आध्यात्मिक उन्नति'के हेतु हैं। अतः इन साधनोंमेंसे कोई-सा भी साधन परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करना 'आध्यात्मिक उन्नति' है।

उन्नतिके साधन

अब बालकोंकी सब प्रकारसे अधिक-से-अधिक उन्नति किस प्रकार हो, इस विषयमें कुछ विचार करना है। जो अवस्थामें बालक हैं, वे तो बालक हैं ही; किंतु जिनके माता-पितादि अभी जीवित हैं, उनकी आयु अधिक होनेपर भी माता-पिताके सम्मुख तो वे भी बालकके ही समान हैं तथा जिन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, वे भी बालकके ही समान हैं। पहले यहाँ यह विचार करते हैं कि बालकोंको अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिये।

कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व उठना और उठते ही भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरण तथा उनको नमस्कार करना चाहिये। फिर—

****

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं। आप ही विद्या और आप ही धन हैं। हे देवोंके भी देव ! मेरे तो सब कुछ आप ही हैं।'

इस प्रकार स्तुति करके भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्यभक्ति हो तथा भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति नित्य-निरन्तर बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌से हृदय खोलकर प्रार्थना करनी चाहिये। इसके बाद, पृथ्वी माताको नमस्कार करके शास्त्रविधिके अनुसार शौच-स्नान करना चाहिये।

मलत्याग करके तीन बार मृत्तिका और जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध और चिकनाई रहे, तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रका त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मलत्यागके बाद मृत्तिका और जलसे दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। मृत्तिका और जलसे पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके अनन्तर मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये। फिर स्नान करना चाहिये।

तदनन्तर यदि यज्ञोपवीतधारी हो तो उसे संध्योपासन, गायत्रीजप, वेदाध्ययन, तर्पण, पूजा, होम आदि विधिपूर्वक करने चाहिये। मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥
(२ । १७६)

****

'ब्रह्मचारी बालकको चाहिये कि नित्य स्नान करके शुद्ध हो देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और समिधाओंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें होम अवश्य करे।'

कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल विधिपूर्वक संध्योपासन और गायत्रीजप तो हरेक यज्ञोपवीतधारी बालकको अवश्य करना ही चाहिये। मनुजीने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(२।१०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसंध्योपासन करता है और न सायं-संध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

शौच-स्नानसे पवित्र होकर ही संध्योपासन और गायत्री-जप करना चाहिये; क्योंकि पवित्र होकर किया हुआ गायत्री-जप ही अधिक लाभदायक होता है। शास्त्रोंमें गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा आती है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(मनु० २।७८)

'इस (ॐ) अक्षर और इन व्याहृतियोंके सहित गायत्रीको दोनों संध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेद-पाठके पुण्य-फलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(मनु० २।७९)

****

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

इसलिये हमलोगोंको एकान्त और पवित्र देशमें आलस्यरहित होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ और भावको समझते हुए गायत्रीका जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीमन्त्रका जप आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें तो सब पापोंका नाश होकर हमारा निश्चय ही कल्याण हो सकता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर प्रतिदिन तीन वर्षोंतक प्रणव और व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह मरनेपर क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये पवित्र होकर नित्य निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक-से-अधिक गायत्रीजप करना चाहिये। अधिक न हो तो कम-से-कम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीका जप तो अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल खड़े होकर और सायंकाल बैठकर जप करना उत्तम है अथवा दोनों समय बैठकर ही कर सकते हैं; किंतु चलते-फिरते नहीं। बीमार हों तो बिना स्नान किये भी हाथ-मुँह और पैर धोकर वस्त्र बदलकर मानसिक संध्या और गायत्रीजप कर सकते हैं। रेल, मोटर, वायुयान आदिमें यात्रा करते समय भी बिना स्नान किये भी मानसिक संध्या और गायत्रीजप आदि ठीक समयपर अवश्य करना चाहिये तथा

****

गन्तव्य स्थानपर पहुँच जानेपर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो पुनः विधिपूर्वक करना चाहिये। प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना सर्वोत्तम है। कहीं आपत्तिकालमें समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन तो कभी होना ही नहीं चाहिये। अपने दैनिक नित्यकर्मका त्याग तो कभी किसी अवस्थामें करना ही नहीं चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्॥

(२।१०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

अतएव स्नान, संध्या, गायत्रीजप, तर्पण, पूजा, हवन, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म कभी किसी अवस्थामें भी नहीं छोड़ना चाहिये। जन्म और मृत्युका अशौच होनेपर मानसिक कर लेना चाहिये। बीमारी और संकट-अवस्थामें स्नान न करनेके कारण अपवित्र होनेपर भी उपर्युक्त नित्यकर्म भगवान्‌का स्मरण करके मानसिक कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्मरण करनेसे मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है। पद्मपुराणमें कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

(पाताल० ८०।११)

'मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा शुद्ध-अशुद्ध सभी अवस्थाओंमें क्यों न पहुँच गया हो, जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है।'

यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकके यज्ञोपवीत नहीं है तो उसे यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करा लेना चाहिये; क्योंकि यज्ञोपवीतके बिना संध्या, गायत्री, वेद और होम आदिमें

****

अधिकार नहीं होता। यज्ञोपवीतका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥

(२। ३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

(मनु० २। ३७)

'ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये।'

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(मनु० २। ३८)

सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

इसके बाद 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है; किंतु 'व्रात्य' संज्ञा होनेपर भी प्रायश्चित्त कराकर कोई सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिला दें तो ले सकते हैं।

जो स्त्री-शूद्र आदि यज्ञोपवीतके अधिकारी नहीं हैं तथा अधिकारी होनेपर भी जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं हुआ है,

***

उन लोगोंको भी अपने इष्टदेव भगवान्‌का पूजन, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, पाठ, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका स्वाध्यायरूप नित्यकर्म और कथा-कीर्तन आत्मकल्याणके लिये अवश्य ही करना चाहिये। उनका संध्या, गायत्री, होम और वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेके कारण उन्हें हठ करके इन्हें नहीं करना चाहिये। जो वर्णाश्रम-धर्मसे रहित हैं, उन लोगोंकी भी आध्यात्मिक उन्नति और उसके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के पूजन-नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, कथा-कीर्तन, जप-ध्यान आदिरूप भक्ति करनेपर हो सकती है।

ऐसा माना जाता है कि एक मिनटमें पंद्रह श्वासके हिसाबसे दिन-रातमें प्रायः २१६०० श्वास आते हैं; इसलिये प्रतिदिन कम-से-कम इक्कीस हजार छः सौ भगवन्नामोंका जप तो अवश्य होना ही चाहिये। इस दृष्टिसे यदि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस षोडश मन्त्रकी १४ माला प्रतिदिन जपी जाय तो २४१९२ नामोंका जप हो जाता है। अतः जिनको यह साधन लाभदायक और उचित प्रतीत हो, वे कम-से-कम १४ मालाका तो जप अवश्य ही करें। इस प्रकारका जप यदि भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान रखते हुए या मन्त्रके अर्थको समझते हुए अक्षरोंका ध्यान रखते हुए किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर गुप्त किया जाय, उसके लाभका तो कहना ही क्या है। उससे तो बहुत ही शीघ्र 'भगवत्प्राप्ति' हो सकती है। श्रीभगवन्नामजपकी महिमा शास्त्रोंमें सब प्रकारके यज्ञोंसे

****

बढ़कर बतलायी गयी है। श्रीमनुस्मृतिमें कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

(२।८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना और मानसजप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

(२।८६)

'जो विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, श्राद्ध, बलिकर्म और अतिथि तथा ब्राह्मणको भोजन कराना) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

इसके अतिरिक्त निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि किसी भी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम एक घंटा या आधा घंटा यथाशक्ति अवश्य करे। श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थसहित या अर्थ और भावपर लक्ष्य रखते हुए पाठ करे तथा श्रीतुलसीदासजीके रामायणके चार दोहों (चौपाई-छन्द आदिसहित) का अर्थपर ध्यान रखते हुए पाठ करे एवं इष्टदेवके स्तोत्रोंका पाठ करे।

प्रतिदिन भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी षोडशोपचारसे

पूजा करे अथवा मनसे अपने इष्टदेवके स्वरूपको अपने हृदयके भीतर या बाहर आकाशमें स्थित करके उनकी पूजा और नमस्कार करे तथा इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थना करे।

इस प्रकार नित्यकर्म करनेके पश्चात् अपने घरमें माता-पिताको तथा जो अवस्था, ज्ञान या पदमें अपनेसे बड़े हों उनको एवं आचार्य, अध्यापक और शिक्षकको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। नित्य प्रणाम करनेका लाभ बतलाते हुए मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२।१२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।'

तदनन्तर आसन, व्यायाम आदि करके अपने अभ्यासके अनुसार दुग्धपान करना चाहिये अथवा रात्रिमें भिगोये हुए चनोंका सेवन भी दुग्धपानके समान ही है। इसके बाद विद्याका अभ्यास करना चाहिये। फिर पवित्र, सात्त्विक, उचित और हलका भोजन करना चाहिये। आचमन करके ही भोजन करे तथा भोजनके अन्तमें भी आचमन करे। श्रीमनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥

(२।५३)

'द्विजको चाहिये कि नित्य आचमन करके सावधान हुआ अन्नका भोजन करे तथा भोजनके पश्चात् भी भलीभाँति आचमन करे एवं छः छिद्रोंका अर्थात् नाक, कान, नेत्रका जलसे स्पर्श करे।'

तथा राजसी, तामसी, भारी और क्षुधासे अधिक मात्रामें

****

भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि अधिक भोजन करनेसे आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥
(२।५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोकनिन्दित है, इसलिये उसे त्याग दे।'

न्यायसे प्राप्त द्रव्यसे खरीदे हुए तथा शास्त्रानुकूल शुद्धतासे बनाये हुए खाद्य पदार्थ पवित्र हैं। सात्त्विक भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

घी, दूध, फल, शाक, अन्न, मेवा और चीनी आदि पदार्थ शुद्ध भी हैं और सात्त्विक भी हैं, इसलिये इन पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये; किंतु घी, चीनी, मावा, मैदा और बेसन (चनेके आटे) की मिठाई भारी होनेसे गरिष्ठ और स्वादु होनेसे राजसी हो जाती है। इसलिये दूध, फल, मूँगकी दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, पूड़ी, फुलका, साग आदि सादा भोजन करना चाहिये।

उचित भोजनसे अभिप्राय है, क्षुधासे न अधिक हो और न कम; हल्केसे मतलब है—भोजन बहुत देरमें पचनेवाला न होकर

****

हलका यानी अल्पकालमें ही पचनेवाला हो। तामसी भोजन तो कभी नहीं करना चाहिये। मधु, मांस, सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, आसव, अरिष्ट, लहसुन, प्याज, बाजारकी मिठाई आदि तथा होटलकी अपवित्र चीजें और एक दूसरेका खाया हुआ जूँठा तथा रातमें बनाकर रखी हुई बासी रोटी आदि तामसी भोजन है। प्रायः सोडावाटर और बर्फ आदि उच्छिष्ट होनेसे, आसव-अरिष्ट मादक होनेसे,मधु और बाजारकी मिठाई अपवित्र होनेसे और चाहे जिसके स्पर्शसे दूषित होनेसे तथा बढ़िया बिस्कुट आदिमें मुर्गीकि अंडे और डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण होनेसे, होटलके पदार्थोंमें मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे तथा लहसुन-प्याजमें दुर्गन्ध होनेसे—ये सभी सर्वथा त्याज्य हैं। मनुजीने भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२।१७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा—इन सभीको त्याग दे।'

राजसी-तामसी भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बताये हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(१७।९-१०)

****

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

भोजन करनेके बाद कम-से-कम आध घंटेतक सोना नहीं चाहिये, रास्ते नहीं चलना चाहिये, विद्याभ्यास भी नहीं करना चाहिये, विशेष परिश्रम और स्नान भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि दिनमें सोनेसे वृत्ति भारी और तामसी होती है और भोजनके बाद तुरंत ही चलने, पढ़ने, परिश्रम या स्नान करनेसे भोजन हजम नहीं होता; बल्कि विकृत होकर स्वास्थ्यकी हानि करता है। इसलिये उस समय आमोद-प्रमोदके लिये अपने सहपाठियोंके साथ विनोदपूर्वक सात्त्विक वार्तालाप या पाठ्यविषयकी चर्चा करनी चाहिये। फिर आधे या एक घंटे बाद पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये। पढ़ाई समाप्त करनेके बाद कसरत, कुश्ती, कवायद, देशी-विदेशी खेल, दौड़-धूप आदि व्यायाम करना चाहिये। तदनन्तर सायंकालमें शौच-स्नान करके संध्या-गायत्री, पूजा-पाठ तथा हवन आदि नित्यकर्म श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक निष्कामभावसे करने चाहिये। नित्यकर्म करते समय उसकी विधि, अर्थ और भावकी ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। सायंकालके बाद शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक, पवित्र और हलका भोजन करना चाहिये तथा आधा घंटा सात्त्विक चर्चामें समय बिताकर रातको ९ बजेतक पढ़ी हुई विद्याका अनुशीलन करना चाहिये। बालकोंके लिये रात्रिमें ९ से ४ बजेतक सात घंटे शयन करना उचित है। शयन करनेके समय संसारी संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्‌के नाम, रूप,

गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये; जिससे कि रात्रिका शयनकाल भी पारमार्थिक विषयमें ही बीते।

उपर्युक्त दिनचर्या विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उत्तम है। इन सब नियमोंका पालन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पाठशाला, स्कूल, कालेज आदिमें तथा घरपर रहकर भी किया जा सकता है। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए घरमें रहे तो भी वह बालक ब्रह्मचारी ही है।

अब सभी बालकोंके लिये विशेष कर्तव्य बतलाये जाते हैं—

बालकोंको चौपड़-ताश आदिके खेलने, थियेटर-सिनेमा आदिके देखनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय व्यय नहीं करना चाहिये। इनमें समय व्यर्थ जाता है, इतनी ही बात नहीं, अपना स्वभाव खराब होता है, जिससे अपना भविष्य नष्ट हो जाता है। थियेटर-सिनेमाके देखनेसे शरीरकी तथा नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि और पैसोंका व्यर्थ खर्च तो है ही, अश्लील दृश्य देखनेसे वीर्यकी हानि भी होती है, जो कि ब्रह्मचारीके लिये कलङ्क है और जिससे बल, बुद्धि, तेज, ज्ञान और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है।

बालकोंको ऐश-आराम, स्वाद-शौक, भोग-विलासका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि ये सब विद्याध्ययनमें बाधक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें कलङ्क हैं। किसी भी इन्द्रियका अपने विषयके साथ जो रागपूर्वक संसर्ग है, वह सारे अनर्थोंका मूल है, अतएव सारे विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप और घृणित समझकर त्याग देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। श्रीमनुजीने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(२।९३)

****

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसंदेह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम विषयोंका उपभोग करके अपनी लालसा पूर्ण कर लेंगे, उनकी यह समझ ठीक नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(२।९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

जैसे फतिंगे क्षणिक सुखके लोभसे दीपकके निकट जाते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं, इसी तरह विषयोंके उपभोगसे मनुष्यको क्षणिक सुख मिलता है; किंतु अन्तमें उसका पतन हो जाता है। इसलिये विवेक, विचार और हठसे चाहे जैसे भी हो, इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही चाहिये।

बालकोंको स्त्रियोंका संसर्ग, जूआ, गाली-गलौज, परस्पर लड़ाई-झगड़ा, परनिन्दा, इत्र, तेल, फुलेल, पुष्पमाला, अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुस्मृतिमें कहा है—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(२।१७८-१७९)

****

'ब्रह्मचारी विद्यार्थीको उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध और लोभका आचरण करना तथा नाचना, गाना, बजाना एवं जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदिका करना तथा झूठ बोलना एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका भी (सर्वथा) त्याग कर देना चाहिये।'

इसी प्रकार विद्यार्थी बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका भी कभी सेवन न करे। ऊपर बतलाये हुए विषयोंके सेवनसे धन, चरित्र, आयु, बल, बुद्धि, आरोग्य तथा इस लोक और परलोककी हानि होती है, इसलिये इन सबका कतई त्याग कर देना चाहिये।

विद्यार्थी हिंसा, द्रोह, ईर्ष्या, झूठ, कपट, छल-छिद्र, चोरी, बेईमानी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भी सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि इनसे इस लोकमें निन्दा होती है और उसका लोग विश्वास नहीं करते तथा मरनेपर परलोकमें दुर्गति होती है। दुराचार आदि दोषोंसे प्रत्यक्षमें ही मनुष्यका पतन हो जाता है।

मनुजीने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

(४।१५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित और दुःख भोगनेवाला तथा रोगी एवं अल्पायु भी होता है।'

दूसरा कोई गाली दे या निन्दा करे तो बदलेमें न तो गाली देनी चाहिये, न उसका अनिष्ट करना चाहिये, न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये; क्योंकि जो हमारी सच्ची निन्दा करता है, वह तो हमारे

****

गुणोंको ढककर हमें शिक्षा देता है, उससे हमें लाभ ही है, कोई हानि नहीं और यदि कोई हमारी झूठी निन्दा करता है या गाली देता है तो उसके निन्दा करने या गाली देनेसे हमारी इस लोक या परलोकमें कहीं किंचित् भी हानि हो नहीं सकती; क्योंकि न्यायकारी भगवान्‌के यहाँ अंधेर नहीं है। इसलिये समझदार बालकको दुःख, चिन्ता, भय, उद्वेग कुछ भी नहीं करना चाहिये, बल्कि सहन करना चाहिये, जिससे क्षमा, तितिक्षा और आत्मबल बढ़कर अन्तमें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मान और अपमानके विषयमें समझना चाहिये। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह मानको विषके समान और अपमानको अमृतके समान समझे। मनुजी कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(२। १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि सम्मानसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

परेच्छा या अनिच्छासे कोई भी दुःख आकर प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न ही होना चाहिये। उसमें दुःख, द्वेष और द्रोह नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति कहती है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(२। १६१)

'आर्त्त होनेपर भी दुःखी न हो और न दूसरेसे द्रोह करनेमें बुद्धि लगावे। जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग हो, ऐसी लोकनिन्दित वाणी न बोले।'

****

कितने ही बालक परीक्षामें अनुत्तीर्ण (फेल) होनेके कारण तथा घरके कलहके कारण एवं देश-विदेशमें घूमनेकी इच्छासे और घरवालोंको तंग करनेके उद्देश्यसे मूर्खतावश घर छोड़कर भाग जाते हैं, इससे उन बालकोंको तो तकलीफ होती ही है, घरवालोंको भी बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, रुपये भी खर्च होते हैं। इसके सिवा बालकोंको घर लौटनेमें घरवालोंका संकोच तथा भय हो जानेसे घर लौटनेमें हिचकिचाहट हो जाती है, जिससे उन्हें भयानक परेशानी उठानी पड़ती है। यह उनकी बेसमझी है। इसलिये कहीं जाना हो तो घरवालोंकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। यदि आज्ञा लेकर न जाय तो कम-से-कम घरवालोंको सूचना तो अवश्य ही दे देनी चाहिये। कोई-कोई बेसमझ बालक तो परीक्षामें फेल हो जाने अथवा घरके कलह आदिके दुःखोंके कारण आत्महत्या कर बैठते हैं, जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्यका अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। ऐसा करना महामूर्खता है। उनको विचारना चाहिये कि जो दुःख इस समय है, उससे बहुत अधिक दुःख विष खाने, जलमें डूबने, आगमें प्रवेश करने और फाँसी लगाकर मरनेमें होता है और मरनेके बाद परलोकमें तो इससे भी भयानक अतिशय दुःख होता है। शुक्लयजुर्वेदके ४० वें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

अतएव किसीको चाहे जितना भी दुःख हो, किसी भी हालतमें कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये और न घरसे भागना ही चाहिये; बल्कि माता, पिता, गुरुजन और मित्रोंके स्वभाव, रुचि और परिस्थितिको समझकर सहनशील बनना चाहिये; क्योंकि मनके विपरीत कार्य उपस्थित होनेपर उसे सहन करनेसे आत्मबल तो बढ़ता ही है, इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति भी मिलती है।

बालकको चाहिये कि जो कार्य माता-पिता और गुरुजन बतलावें, उसे अवश्यमेव ही करना है—इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धिसे उस कार्यको करनेका अपनेपर उत्तरदायित्व समझे और उसे भलीभाँति करे। जो अपने कर्तव्यके विषयमें अपना दायित्व नहीं समझता, उसकी इस लोक और परलोकमें इज्जत नहीं है और उसका कोई विश्वास भी नहीं करता, इसलिये उसका जीवन व्यर्थ है।

बालकोंको निष्कामभावसे कुटुम्ब, जाति और देशकी सेवा करनी चाहिये तथा हो सके तो मन, तन, धनसे प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिये, किंतु दुःख तो किंचिन्मात्र भी कभी किसीको देना ही नहीं चाहिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—'जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥'

(१२।४)

अतएव यथाशक्ति मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा बड़े उत्साहके साथ निःस्वार्थभावसे सब प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये।

सत्यके पालनपर बालकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जैसा

****

देखा, सुना और समझा हो, उसीके अनुसार निष्कपटभावसे कहना, न उससे अधिक और न कम ही कहना—यही सत्य है तथा वह वाणी सत्यके साथ-साथ मधुर और प्रिय हो। मधुर और प्रिय वही है, जो परिणाममें हितकर हो। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(४। १३८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसी वाणी न बोले, जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो और न ऐसी ही वाणी बोले, जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, यही सनातन धर्म है।'

श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके १५ वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए यह आदेश दिया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (वह वाणीका तप कहा जाता है)।'

जो बालक असत्य बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, न उसकी इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठा ही होती है। अतएव सत्य, प्रिय, मित और हितभरे वचन बोलना चाहिये तथा सबका विश्वासपात्र बनना चाहिये। जो किसीको धोखा नहीं देता, अपना दायित्व समझता है, कर्तव्यच्युत नहीं है, समय व्यर्थ नहीं बिताता है और गुरुजनोंके इच्छानुसार कार्य करके उनको अपनी आवश्यकता पैदा कर देता है, वही बालक विश्वासपात्र समझा जाता है। ये सब बातें स्वार्थत्यागपूर्वक सेवा करनेसे स्वाभाविक ही हो जाती हैं। इसलिये हरेक कार्यमें स्वार्थत्याग करके सबकी सेवा करनी चाहिये।

****

विद्याका अभ्यास

बालक-बालिकाओंके माता-पिता तथा अभिभावकोंको चाहिये कि वे बालकोंको विषय-सुखोंमें आसक्त होनेका अवसर न दें; क्योंकि विषयोंमें सुखकी इच्छा उत्पन्न हो जानेपर बालक यथार्थ विद्याके लाभसे वञ्चित रह जाता है। बुद्धिमान् तरुण-तरुणियोंको भी ऐसा ही समझना तथा करना चाहिये। इस समय अनेक प्रकारकी भाषा और लिपिके ज्ञानकी भी बहुत आवश्यकता हो गयी है। हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती, मराठी, गुरुमुखी तथा अपनी प्रान्तीय एवं अंग्रेजी, रूसी और चीनी आदि विदेशी—अनेकों भाषाओं और लिपियोंमेंसे जितनीका ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है।

कॉलेज-स्कूलोंकी सहशिक्षा अर्थात् लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना बड़ा ही खतरनाक और हानिकारक है। इससे चरित्रनाशकी बहुत आशङ्का है। सहशिक्षाके बहुत अधिक दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हो चुके हैं। इसलिये सहशिक्षाको सर्वथा बंद करके लड़के-लड़कियोंको अलग-अलग पाठशालाओंमें पढ़ाना चाहिये। तेरह-चौदह वर्षकी या उससे अधिक आयुवाली अविवाहित या विवाहित युवतियोंको तो अपने घरमें रहते हुए ही गृहकार्यके साथ-साथ विद्याका अभ्यास करना चाहिये। वे चाहे नैहर (पीहर) में रहती हों या ससुरालमें, उनके लिये घरसे बाहर जाकर स्कूलों, कॉलेजोंमें पढ़ाई करना सर्वथा हानिकर है; क्योंकि उच्च कक्षाओंमें अध्यापक प्रायः पुरुष ही रहते हैं, इसलिये भी उनके संसर्गसे उच्छृङ्खलताकी वृद्धि और चरित्रहीनताकी सम्भावना है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई भी सुनी जाती हैं।

बालक-बालिकाओंको ऐसा शृङ्गार भी नहीं करना चाहिये,

****

जिसे देखकर मनमें विकार उत्पन्न हों; सौन्दर्य, सजावट, शौकीनी आदि शृङ्गारकी भावनाओंके उत्पन्न होनेसे मनोविकार बढ़ता है और चरित्रका नाश हो जाता है।

पाठ्यक्रममें भी शृङ्गार, अश्लीलता, अभक्ष्यभक्षण तथा नास्तिकताका वर्णन करनेवाली तथा इनको प्रोत्साहित करनेवाली पुस्तकें नहीं रखनी चाहिये और नहीं पढ़नी चाहिये; इससे सभी प्रकारकी बड़ी भारी हानि है। अतः जिन पुस्तकोंके अध्ययनसे बालक-बालिकाओंकी भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो, उनमें सभ्यता, शिष्टाचार, विनय, सेवा, संयम, बल, तेज, सद्गुण-सदाचार, विवेक और ज्ञान बढ़े तथा बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसी उत्तम शिक्षासे युक्त पुस्तकें ही पढ़ानी चाहिये।

यह विद्याका अभ्यास लड़कियोंको चौदह वर्ष तथा लड़कोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके तथा विवाहके पूर्व ही कर लेना चाहिये। आजकलके असंयमपूर्ण विलासी वातावरणमें विवाहके लिये विलम्ब करनेसे बालिकाओं और बालकोंके चरित्र कुसङ्गके कारण बिगड़ जाते हैं, अतः इस समय अठारह वर्षके बाद बालकका और चौदह वर्षके पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये। लड़का ब्रह्मचर्यपालनके लिये आग्रह करे और विवाह करनेका घोर विरोध करे तो ऐसी स्थितिमें बीस वर्षके बाद भी लड़केका विवाह किया जाय तो कोई हानि नहीं। आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें वर्षमें प्रायः छः महीने छुट्टियोंमें चले जाते हैं, जिनमें विद्यार्थियोंका समय नष्ट होता है और वे व्यर्थ इधर-उधर भटकते हैं। यह समय यदि पढ़ाईमें लगाया जाय तो इस समय जो पढ़ाई बीस वर्षकी अवस्थामें पूरी होती है, वही सोलह वर्षकी अवस्थामें

पूरी हो सकती है। ऐसा करनेपर अठारह वर्षतक काफी पढ़ाई होना सम्भव है। 'बालकोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके बाद न्याययुक्त व्यवसायका कार्य, अपनी जातिके अनुसार जीविकाका कार्य मन लगाकर अवश्य करना चाहिये। काम करते हुए ही साथमें विद्याका अभ्यास भी किया जाय तो और भी उत्तम है; क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् विद्याध्ययनमें मन विशेष नहीं लगता, इसलिये न्याययुक्त जीविकाके काममें मन लगाना चाहिये। जो किसी विशेष प्रकारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे विवाहके अनन्तर भी कर सकते हैं; पर साधारणतया जीविकाके कार्यमें ही लगना उत्तम है।

जो बाल्य-अवस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता, उसको सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शास्त्रोंने विद्याकी बड़ी भारी महिमा गायी है। श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है। विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है; यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझी गयी है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'—

किसी अन्य कविने कहा है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं करा सकते, इसका कुछ बोझा भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती ही रहती है; अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

बालक-बालिकाओंको पढ़नेके समय झुककर या पसरकर नहीं पढ़ना चाहिये तथा रात्रिमें बिजलीकी तेज रोशनीके सामने भी नहीं पढ़ना चाहिये; क्योंकि इन सबसे नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि होती है। इसी कारण वर्तमानमें स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़नेवाले बहुत-से बालक-बालिकाओंमें नेत्रदोष आ जाता है और उन्हें अकालमें ही चश्मे लगाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन

वास्तवमें ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना यानी ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है।

****

इसमें प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा सङ्ग ही करें तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करें कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोंमें प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओंको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमें नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञापन और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी बड़ी भारी हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमें बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़कों तथा अध्यापकोंके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते हैं, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमें किसीको देखना चाहिये, न कभी अश्लील बातचीत ही करनी चाहिये और न हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमें लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहिन और पुत्री ही क्यों न हो, एकान्तमें तो कभी उनके साथ रहे ही नहीं। श्रीमनुजी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१५)

****

'माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्‌को भी अपनी ओर खींच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये।

बालकोंको आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करंना तथा स्त्रीसङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य हैं, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषों और बालकोंके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहें कि 'इनमें और सब बातोंका तो परहेज किया जा सकता है; किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है' सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो त्रीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे आवश्यक बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता या बहिनके समान समझकर शुद्ध भावसे बात करे।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेषभूषा, साज-शृङ्गार, तेल-फुलैल, केश-विन्यास, गहने-कपड़े, फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें। ऐसी संस्थाओं, स्थानों,

****

नाट्य-गृहों, उत्सवस्थलों, क्लबों, पार्टियों, भोजों, भोजनालयों, होटलों और उद्यानोंमें भी न जायँ, जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी तथा खान-पान और चरित्र-भ्रष्ट होनेकी जरा भी आशङ्का हो। सदा सादगीसे रहे और पवित्र सादा भोजन करे। इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुई नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही धीर, वीर, तेजस्वी, ज्ञानी, विरक्त, भगवान्‌के भक्त, विद्वान् और बुद्धिमान् हुए। वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें आया है, जब श्रीहनुमान्‌जीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट हुई, उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे लक्ष्मणसे कहने लगे—'लक्ष्मण! ये वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे समीप आये हैं। ये वाक्यरचनाको जाननेवाले हैं। ये व्याकरणके भी पण्डित हैं, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके शब्दोंमें कहीं अशुद्धि नहीं आयी।' श्रीहनुमान्‌जी बहुत ही बुद्धिमान्, पण्डित, छन्द और काव्यके ज्ञाता तथा उच्चकोटिके विद्वान् थे। महान् संगीतज्ञ थे। वे योगकी सिद्धियोंके भी ज्ञाता थे। जिनके प्रभावसे वे महान्-से-महान् और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप धारण कर लिया करते थे। यह बात उनके चरित्रसे सिद्ध होती है। लङ्का जाते समय उन्होंने विशाल रूप धारण किया और सौ योजनके समुद्रको लाँघकर लङ्कापुरीमें प्रवेश करते समय मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लिया। वे बड़े भारी वीर और बलवान् भी थे। इसे बतानेवाले बहुत-से उदाहरण संसारमें प्रसिद्ध हैं। अक्षयकुमारको मार देना, रावणको मूर्छित कर देना, संजीवनी बूटीके लिये

****

सूर्योदयके पूर्व ही द्रोणगिरिको उखाड़कर ले आना आदि घटनाएँ रामायणादि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। श्रीरामजीके यज्ञीय अश्वकी रक्षाके समय, राजा वीरमणिके दोनों पुत्रोंको रथसहित पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक देना, शिवजीके त्रिशूलको तोड़ डालना और उनको अपनी पूँछमें लपेटकर मारने लगना, वीरभद्रके द्वारा मारे हुए पुष्कलको द्रोणपर्वतसे संजीवनी लाकर जिला देना आदि श्रीहनुमान्‌जीके वीरतापूर्ण लोकोत्तर कार्योंका वर्णन पद्मपुराणके पातालखण्डमें मिलता है। हनुमान्‌जी श्रीभगवान्‌के अलौकिक भक्त हैं, यह तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हनुमान्‌जीकी इस लोकोत्तर प्रतिभामें भगवान्‌की अनन्य भक्ति और ब्रह्मचर्य ही सर्वप्रधान कारण हैं। आज भी बल-वर्द्धनके लिये व्यायाम करनेवाले लोग 'महावीर' के नामका स्मरण करते हैं और 'महावीर' के नामसे दल बनाते और अखाड़े खोलते हैं।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दासराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शान्तनुने उनको वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।' भीष्मजी अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी सभामें जाकर सब राजाओंको पराजितकर स्वयंवरसे राजकन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाका हरण कर लाये। यह दुष्कर कर्म केवल अकेले भीष्मने किया और जब अम्बाका पक्ष लेकर परशुरामजी आये, तब उनके साथ तेईस दिन घोर युद्ध करके परशुरामजीको युद्धमें छका दिया। परशुरामजी-जैसे महान् अस्त्रधर

****

त्रैलोक्यविजयी वीर भी दुर्धर्ष भीष्मको पराजित न कर सके। अर्जुनद्वारा बाणसे भीष्मका पृथ्वीपर गिराया जाना—यह केवल भीष्मकी इच्छासे ही हुआ। वास्तवमें भीष्मको पराजित करनेवाला शास्त्रोंमें कहीं देखने-सुननेमें नहीं आया। भीष्म केवल वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके ज्ञाता, पण्डित और उच्चकोटिके अनुभवी सद्गुणी सदाचारी ज्ञानी महात्मा महापुरुष थे, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके आग्रह करनेपर शरशय्यापर पड़े हुए ही धर्मराज युधिष्ठिरको राजनीति, धर्म और अध्यात्म आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व इसी भीष्मोपदेशसे भरे हुए हैं।

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी परम भक्त भी थे। महाभारतके शान्तिपर्वके ४५ और ४६ वें अध्यायोंमें यह बात आती है कि जब वे शरशय्यापर शयन किये हुए थे, उस समय वे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे तो इधर श्रीकृष्ण भी इनका ध्यान कर रहे थे।

इसमें ब्रह्मचर्यपालन एक प्रधान कारण है। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है और रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है; गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्यका कभी खण्डन न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, स्मृति, धीरता, वीरता और गम्भीरताकी वृद्धि होकर

****

उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीन कालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्में बतलाया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता-पिताकी सेवा

बालकोंके लिये अपने माता-पिताकी सेवा करना परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। इनकी सेवा करनेसे महान् लाभ और न करनेसे महान् हानि है। जिनके माता-पिता जीवित हैं, चाहे उनकी कितनी ही उम्र क्यों न हो, माता-पिताके आगे वे बालक ही हैं।

अतः सबको माता-पिताकी सेवाका लाभ उठाना चाहिये। सेवासे अभिप्राय है—तन, मन, धनद्वारा आदरसे सेवा-शुश्रूषापूर्वक उनको सुख पहुँचाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके संकेत और मनकी रुचिके अनुसार आचरण करना तथा उनके चरणोंमें नमस्कार करना; क्योंकि बालकके पालन-पोषण और विवाह (शादी) आदि कार्योंमें माता-पिता महान् क्लेश सहते हैं तथा मरनेपर अपना सर्वस्व पुत्रोंको देकर जाते हैं; ऐसे परम हितैषी माता-पिताको जो त्याग देता है अथवा उनकी सेवा नहीं करता, वह घोर नरकमें जाता है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है—

****

पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ ॥
महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः ।
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम् ॥
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम् ।
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम् ॥
विष्ठाशी जायते मूढो ग्रामघोणी न संशयः ।
यावज्जन्मसहस्त्रं तु पुनः श्वा चाभिजायते ॥
पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि ।
स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चादृक्षः प्रजायते ॥
मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः ।
कुम्भीपाके वसेत्तावद्यावद्युगसहस्त्रकम् ॥

(६३।४—७, ११, १२)

'जो किसी अङ्गसे हीन, दीन, वृद्ध, दुःखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र होकर बूढ़े मा-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, उसके पापका परिणाम बताता हूँ। वह मूर्ख अवश्य विष्ठा खानेवाला ग्रामसूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोंतक उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो पुत्र कड़वे वचनोंद्वारा भी माता-पिताकी भर्त्सना करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेता है, तत्पश्चात् रीछ होता है। जो पापबुद्धि पुत्र माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके सुधार और कल्याणके लिये जितनी भी बन पड़े, अधिक-से-अधिक उनकी सेवा और आज्ञा-पालन करना चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये।

माता-पिताकी सेवाके विषयमें शास्त्रोंमें बड़ा भारी माहात्म्य लिखा है। केवल माता-पिताकी सेवासे ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह बात आती है कि उसे तीनों कालोंका ज्ञान भी हो जाता है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डके ४७ वें अध्यायमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है, वह यहाँ लिखी जाती है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। सब तीर्थोंमें घूमते हुए उनके वस्त्र तपके प्रभावसे प्रतिदिन आकाशमें ही सूखते थे। इससे उनके मनमें बड़ा भारी अहंकार हो गया। वे समझने लगे, मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे मुख ऊपर किये यही बात कह रहे थे कि इतनेमें एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। तब ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बेचारा बगुला भस्म होकर जमीनपर गिर पड़ा। बगुलेकी मृत्यु होते ही नरोत्तमके मनमें बड़ा भारी मोह व्याप्त हो गया। उसी पापके कारण तबसे उनके वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरते थे। यह जानकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणीने कहा—'ब्राह्मण ! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा। उसका वचन तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा।'

यह आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा है। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने मा-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके बाद पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसंत-ऋतुमें सुगन्धित माला पहनाता था। इनके सिवा और भी जो

भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। ग्रीष्मकालमें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी सेवा करके उनको भोजन कराकर ही वह भोजन करता था। माता-पिता-की थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था। इन पुण्यकर्मोंके कारण चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खम्भेके ही आकाशमें स्थित था। उसके घरमें त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजते थे। यह सब देखकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मूक चाण्डालसे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सम्पूर्ण लोकोंके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ।'

मूक चाण्डाल बोला—'विप्र! इस समय मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ। आपके पास कैसे आऊँ? इनकी पूजा करके आपकी आवश्यकता पूर्ण करूँगा, तबतक मेरे दरवाजेपर ठहरिये।' चाण्डालके इतना कहते ही ब्राह्मण देवता क्रोधमें भर गये और बोले—'मुझ ब्राह्मणकी सेवा छोड़कर तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य बड़ा हो सकता है?'

चाण्डालने कहा—'आप कोप क्यों करते हैं, मैं बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती न तो आकाशमें सूखती है और न ठहर ही पांती है। अतः आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घरपर आये हैं। थोड़ी देर ठहरिये तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा; अन्यथा पतिव्रता स्त्रीके पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरसे ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने निकलकर नरोत्तम ब्राह्मणसे कहा—'चलो, मैं पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये।

इस कथासे मालूम होता है कि मूक चाण्डाल माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसे तीनों कालोंका ज्ञान था और वह अन्तमें स्वयं तो माता-पिताके सहित परम धाममें चला ही गया, उसके घरमें बसनेवाले जीव-जन्तु भी परम धाममें चले गये।

मर्यादापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी सेवा करके जीवोंके कल्याणके लिये एक उच्च कोटिका आदर्श उपस्थित किया है; जिनकी कथा तुलसीकृत, अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें तथा पद्मपुराण और महाभारत आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

पिताको दुःखी देखकर जब श्रीरामजीने माता कैकेयीसे उनके दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन नहीं निकलते। इन्होंने जिस कार्यके लिये मुझसे प्रतिज्ञा की है, तुमको वह अवश्य ही करना चाहिये। यदि तुम उनकी आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुम्हें सारी बातें बता दूँ। इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० २।१८।२८-२९)

'अहो! मुझे धिक्कार है। हे देवि! आपको ऐसी बात मुझे नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

****

अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक कह दिया कि—

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम् ॥
सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम् ।
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः ॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः ।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥
अतः करोमि तत् सर्वं यन्मामाह पिता मम ।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

(२।३।५९—६२)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, हलाहल जहर पी सकता हूँ। राज्यको तो मैं त्याग ही रहा हूँ, पत्नी सीताको और माता कौसल्याको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र आज्ञा न मिलनेपर भी पिताके मनके और संकेतके अनुकूल कार्यको करता है, वह उत्तम और जो कहनेपर करता है, वह मध्यम कहा गया है; किंतु जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो 'मल' ही कहा जाता है। इसलिये मेरे पिताजीने मेरे लिये जो कुछ कहा है, वह सभी मैं करूँगा। आपसे मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, मैं उसे अवश्य करूँगा। राम कभी दो बात नहीं कहता।'

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्याके भवनमें गये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वन जानेका वृत्तान्त कहा। उनके वचन सुनकर माता कौसल्याको बहुत दुःख और उद्वेग हुआ। वे बोलीं—

पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः ।
पित्राऽऽज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम् ॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः ।
तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम् ॥

(अध्यात्म० २।४।१२-१३)

****

'राम ! जिस प्रकार तुम्हारे लिये पिता बड़े हैं, उनसे भी बढ़कर मैं तुम्हारे लिये बड़ी हूँ। वन जानेकी पिताने आज्ञा दी है तो मैं तुझ पुत्रको मना कर रही हूँ। यदि तुम मेरे वचनोंका उल्लङ्घन करके राजाके वाक्यसे वनको जाओगे तो मैं प्राण त्याग करके मर जाऊँगी।'

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।

(२। २१। २७-२८)

'यदि तुम शोकविह्वल मुझको छोड़कर वन चले जाओगे तो मैं यहाँ आहार नहीं करूँगी, जिससे जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्र ! तब तुम लोकप्रसिद्ध (स्थानविशेष) नरकको प्राप्त होओगे।'

इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २। २१। ३०)

'माताजी ! मैं सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य नहीं है; अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ।' (आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दें।)

यहाँ श्रीतुलसीकृत रामायणमें माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेकी अनुमति दे रही हैं—

****

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

फिर वे कहने लगीं—'रघुनन्दन! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती। तुम इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ। तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतासे जिस धर्मका पालन करते हो, वही तुम्हारी रक्षा करे। महर्षियोंके साथ सब देवता तुम्हारी रक्षा करें।'

इस प्रकार माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भगवान् श्रीराम प्रसन्नवदन हो वनमें चले गये। धन्य है, उनकी मातृ-पितृ-सेवा और आज्ञापालन! जो मनुष्य उनका अनुकरण करता है, वह भी धन्य है; उसके उद्धारमें कोई भी शङ्का नहीं। भगवान्‌के तो नाम और स्वरूपके स्मरणसे ही कल्याण हो जाता है, फिर उनके अनुकरणसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है?

अतएव बालकोंको उचित है कि माता-पिताकी सेवाको परम धर्म मानकर उनकी सेवामें सब प्रकारसे सदा तत्पर रहें। मन, वाणी और शरीरसे सदा उनके अनुकूल चेष्टा करना, नित्य नमस्कार और परिक्रमा करना, चरणोंका प्रक्षालन करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि सेवाकी शास्त्रोंमें बड़ी भारी महिमा बतलायी है।

पद्मपुराणमें कहा है—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रोः प्रणमतः शिरः।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षयं लभते दिवम्॥

(सृष्टिखण्ड ४७। ११—१३)

****

'माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये। जो माता और पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसने सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा कर ली। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके घुटने, हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है।'

मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते॥

(भूमिखण्ड ६२। ७४)

'जो पुत्र प्रतिदिन माता और पिताके चरण पखारता है और उस चरणोदकको सिरपर धारण करता है, उसका नित्यप्रति गङ्गास्नान हो जाता है।'

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम्॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम्।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यदप्राप्यं हि योगिभिः।

(भूमिखण्ड ६३। २—४)

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा इसी प्रकार माताकी भी वही अवस्था हो, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यका माहात्म्य मैं कहता हूँ—उसपर निस्संदेह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं। वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ श्रीविष्णुभगवान्‌के परम धामको प्राप्त होता है।'

नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च॥

(भूमिखण्ड ६३। १३)

'पुत्रोंके लिये माता तथा पितासे बढ़कर दूसरा कोई भी तीर्थ नहीं है। माता-पिता—ये दोनों इस लोकमें और परलोकमें भी निस्संदेह नारायणके समान हैं।'

शास्त्रोंमें माता-पिताकी सेवाके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें आता है कि द्वारकावासी शिवशर्माके यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा और सोमशर्मा नामक पाँचों पुत्रोंने मातृ-पितृ-भक्तिसे परमपदकी प्राप्ति कर ली। मनुष्यकी तो बात ही क्या है, कुञ्जल नामके तोतेके चारों पुत्र उज्ज्वल, समुज्ज्वल, विज्वल और कपिञ्जल (पक्षी) भी माता-पिताके बड़े भक्त हुए हैं। माता-पिताकी सेवाके विषयमें पद्मपुराण भूमिखण्डमें कुण्डलपुत्र सुकर्माका, वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ वें सर्गमें श्रवणका और महाभारतके वनपर्वके २०७ वें अध्यायमें धर्मव्याधका इतिहास मिलता है। समस्त स्मृतियाँ भी एक स्वरसे माता-पिताकी सेवाके महत्त्वको बतलाती हैं। शास्त्रोंमें गुरु, उपाध्याय और आचार्यकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व अधिक बतलाया है; क्योंकि माता-पिता बालकके पालन-पोषणमें जो कष्ट सहते हैं, उसका बदला किसी भी हालतमें बालक चुका नहीं सकता। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(२। २२७)

****

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।' इसलिये—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(२।१४५)

'बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे भी एक माता बड़ी है।'

इस कलियुगमें भी अनेकों मातृ-पितृभक्त पुरुष हो गये हैं। उनमेंसे एककी संक्षिप्त घटना यहाँ लिखी जाती है—

दक्षिणमें चन्द्रभागाके तटपर श्रीविट्ठल (विठोबा) भगवान्‌के मन्दिरके पास ही प्रायः पाँच सौ गज दूरपर 'पुण्डलीक' का मन्दिर है और वहाँ इसका बड़ा माहात्म्य है। ये पुण्डलीक पहले माता-पिताके भक्त नहीं थे। एक बार वे पत्नीसहित काशी गये थे, वहाँ उन्होंने काशीसे तीन कोसपर मातृ-पितृभक्त महात्मा कुक्कुटके आश्रममें मूर्तिमान् गङ्गा-यमुना-सरस्वतीको सेवा करते देखा। पुण्डलीक जब उनके चरण-स्पर्श करनेको बढ़े, तब वे यह कहकर दूर हट गयीं कि 'तुम पापी हो, हमें छूना मत।' पुण्डलीकके बहुत अनुनय-विनय करनेपर गङ्गा आदिने बताया कि 'तुम-सरीखे पापी हममें स्नान करके जो पापराशि छोड़ जाते हैं, उस पापराशिको धोकर पूर्ववत् विशुद्ध होनेके लिये हमलोग पुण्यपुरुषोंके आश्रमोंमें आकर उनकी सेवा करती हैं।' यह सुनकर पुण्डलीकने उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। उन्होंने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर उनसे पूछनेकी सम्मति दी। तदनुसार पुण्डलीकने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर अपनी सारी कथा सुनायी और उद्धारका उपाय पूछा। इसपर

परम मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिने कहा कि 'पुण्डलीक ! तू बड़ा मूर्ख है, जो माता-पिताको छोड़कर यहाँ काशी-यात्राको आया है। तुझे यहाँ क्या फल मिलेंगे ! माता-पिताकी सेवा काशी-यात्राकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जा, माता-पिताकी सेवा कर।' यह सुनकर पुण्डलीक वहाँसे लौट आये और अनन्यभावसे माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे फिर माता-पिताके साथ पण्ढरीमें आकर रहे। एक दिन उन्हें दर्शन देनेके लिये स्वयं भगवान् पधारे। उस समय ये माता-पिताकी सेवामें लगे थे। इन्होंने भगवान्के आदरातिथ्यकी अपेक्षा माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ समझा और भगवान्की भी उपेक्षा न हो, इसलिये भगवान्की ओर एक ईंट फेंककर प्रार्थना की कि आप इसपर खड़े रहें। भगवान् भक्तवत्सल हैं। पुण्डलीककी मातृ-पितृभक्तिसे संतुष्ट होकर उसी ईंटपर खड़े हो गये। माता-पिताकी सेवा कर चुकनेपर भगवान्की पुण्डलीकने स्तुति की। भगवान्ने प्रसन्न होकर जब वर माँगनेको कहा, तब पुण्डलीकने यही वर माँगा कि 'मेरी मातृ-पितृभक्ति सदा बनी रहे और आप इसी रूपमें यहीं विराजें।' पुण्डलीकको 'तथास्तु' कहकर भगवान् पुण्डलीकके इच्छानुसार श्रीविग्रहके रूपमें ईंटपर ही खड़े हो गये और आजतक उन्हीं श्रीविग्रहकी पूजा होती है। लाखों नर-नारी 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल' की जय-घोष करते हुए भगवान्के दर्शन करते हैं। पुण्डलीककी पूजा होती है और पुण्डलीकके माता-पिताकी समाधि भी उन्हींके मन्दिरके पास ही विद्यमान है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल माता-पिताकी सेवासे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। यदि कहें कि माता-पिताकी सेवासे कल्याण होनेकी बात शास्त्रमें आती है, यह तो ठीक है; किंतु यह बात युक्तिसे समझमें नहीं आती, तो इसका उत्तर यह है कि यह

युक्तिसङ्गत भी है। कोई कार्य माता-पिताके तो अनुकूल है, पर पुत्रके प्रतिकूल है, तो उस समय वह आज्ञाकारी पुत्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करता है तथा जो कार्य पुत्रके तो अनुकूल है, किंतु माता-पिताके प्रतिकूल होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते तो उस परिस्थितिमें वह पुत्र उस कार्यको माता-पिताके प्रतिकूल समझकर उसे तुरंत त्याग देता है। इस प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्रतिदिन ही प्राप्त होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुत्रकी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंपर नित्य आघात पड़ते रहनेसे उसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह माता-पिताकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता तथा उनकी प्रतिकूलतामें ही अपनी प्रतिकूलताका समावेश कर देता है; उसकी अपनी न कहीं अनुकूलता रहती है और न प्रतिकूलता ही। तब अनुकूलतामें होनेवाले राग और प्रतिकूलतामें होनेवाले द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखादि सारे विकारोंके मूल राग-द्वेष ही हैं। इनका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिसे समता और चित्तमें प्रसन्नता होती है और प्रसन्नतासे परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव माता-पिताकी सेवासे कल्याण होना शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है।

गुरु-सेवा

माता-पिताकी भाँति आचार्य या गुरुकी सेवा करना भी परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिकुल, गुरुकुल, पाठशाला,

विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदिमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने आचार्य, अध्यापक, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल आदि गुरुजनोंका सत्कार, सम्मान, उनकी आज्ञाका पालन, वर्णाश्रमानुसार यथोचित सेवा अवश्य करनी चाहिये।

इसी प्रकार आत्मोद्धारके लिये उपदेश करनेवाले गुरुकी विशेष सेवा करनी चाहिये। ऐसे सद्गुरुकी सेवासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपनिषदोंमें भी गुरुभक्तोंकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। सत्यकाम और उपकोसल आदिको गुरुकी सेवासे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो गया था। गुरुभक्तिकी महिमाके प्रसङ्गमें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है कि 'गुरुके अनुग्रहसे शिष्यको लौकिक आचार-व्यवहारका ज्ञान होता है, विज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्योंको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्‌को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं।* वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश

---

* सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥

(८५। ८)

करते हैं, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ हैं। यह समझकर शिष्यको उचित है कि वह सब तरहसे गुरुको प्रसन्न रखे; गुरुको पुण्यमय जानकर मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे उनकी सेवा करे।'

इसलिये बालकोंको नित्य अपने गुरुजनोंके चरणोंमें दाहिने हाथसे उनके दायें पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर प्रणाम करना चाहिये। श्रीमनुजी कहते हैं—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(२।७२)

'हाथोंको हेर-फेर करके गुरुको प्रणाम करना चाहिये। बायें हाथसे बायाँ चरण और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।' तथा सदा गुरुके साथ बहुत ही आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। श्रीमनुजीने बतलाया है—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(२।१९४, १९६, १९८)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले तो उठे और पीछे सोवे। बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर और खड़े हुएसे उनके सामने जाकर तथा अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर एवं दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर (बातचीत)

****

करे। गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसनादि सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये।'

गुरुके साथ कभी असद्व्यवहार नहीं करना चाहिये। असद्व्यवहार करनेसे दुर्गति होती है। श्रीमनुजी कहते हैं—

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(२।२०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा होता है, उनकी निन्दा करनेवाला निस्संदेह कुत्ता होता है, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि होता है और उनके साथ डाह रखनेवाला कीट होता है।'

अतएव इस प्रकार कभी भी गुरुके साथ बुरा बर्ताव न करे, बल्कि उनकी आज्ञाका पालन करे और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करे। उनकी इच्छाका पता न लगे तो उनके संकेतके अनुसार करे, संकेतका पता न लगे तो उनकी आज्ञाके अनुसार करे तथा मन, वाणी और शरीरसे सदा-सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहे। इस प्रकार नित्य नमस्कार, सेवा और आज्ञापालन करनेसे शिष्यका कल्याण हो जाता है।

माता-पिता और गुरुकी सेवाका महत्त्व जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। श्रीमद्भगवद्गीताके १७ वें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें शारीरिक तपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने जो '**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्**' कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु यानी माता-पिता, आचार्य आदि तथा प्राज्ञ यानी ज्ञानवान्—इनका पूजन अर्थात् सेवा-सत्कार और आदर करना चाहिये।

श्रीमनुजीने बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही ।

(२ । २३०, २३२)

'माता-पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं, ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं, ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-अग्नि हैं। इन तीनोंकी सावधानीपूर्वक सेवासे गृहस्थी मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है।' श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

(२ । २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है, यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

इसी प्रकार वेदोंमें भी इसकी बड़ी महिमा मिलती है। तैत्तिरीयोपनिषद्के १ । ११ में बतलाया है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मदेव माननेवाला हो।'

ईश्वर-भक्ति

ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद,

****

दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदाका तथा दुःखोंका स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमें सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदाके लक्षण अपने-आप ही आ जाते हैं, जिससे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें न तो पैसे खर्च होते हैं, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही। जैसे रात्रिके समय लेटनेके बाद कोई कार्य तो है ही नहीं, समय केवल सोनेमें ही जाता है और स्वप्न भी वैसे ही आते हैं, जैसे कि सोनेके आरम्भसमयमें संकल्प होते हैं। इसलिये शयनके समयमें सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको हटाकर परमात्म-विषयक संकल्प करते हुए अर्थात् परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते हुए शयन करनेसे रात्रिमें परमात्मविषयक ही संकल्प होते रहेंगे, इससे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्माके निकट पहुँचेंगे। बतलाइये, इसमें हमको क्या परिश्रम है ? एवं न तो इसमें पैसोंका खर्च है और न समयका ही। फिर इसके न होनेमें कारण श्रद्धा-प्रेमकी ही कमी है। श्रद्धा और प्रेम हमलोगोंका स्वाभाविक संसारमें है, उसको भगवान्‌की ओर कर देनेसे महान् लाभ है और संसारकी ओर रखनेसे बड़ी हानि है। 'भगवान् हैं और मिलते हैं तथा वे अन्तर्यामी, परमदयालु और सर्वशक्तिमान् हैं'—इस प्रकारका जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम श्रद्धा है। इस प्रकार परमात्मामें विश्वास होनेपर उसके द्वारा कोई भी दुराचाररूप पाप नहीं बन सकते; क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं तथा सब जगह उनकी आँखें हैं और सब जगह ही उनके कान हैं। अतः हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् उसे देख रहे हैं और जो कुछ हम बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(१३। १३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

जब बालकको इस प्रकार विश्वास हो जाता है, तब फिर वह दुराचार, दुर्व्यसन और प्रमादरूप पापको, जो कि परमात्मासे विपरीत कार्य हैं, कैसे कर सकता है?

ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी शरण होनेपर मनुष्यमें निर्भयता आ जाती है तथा उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता ईश्वरकृपासे स्वाभाविक ही आ जाती है। अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा दूसरोंकी हिंसा करनेवाला वीर नहीं कहलाता। वीर पुरुष वही है, जो अपने ऊपर भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति अपने सिद्धान्तको, कर्तव्यको नहीं छोड़ता, वरं उसपर दृढ़ताके साथ डटा रहता है, जरा भी विचलित नहीं होता। ईश्वरके सगुण और निर्गुण स्वरूपकी प्राप्ति या ज्ञान न होनेके कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं, किंतु जीव ईश्वरका अंश होनेसे उसका भगवान्में प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये। अतः भगवान्के साथ आत्मीयता दृढ़ होनेके लिये भगवान्से दास्य, सख्य आदिमेंसे किसी भावका सम्बन्ध, उसकी सत्तामें विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये। फिर उसके द्वारा कोई भी पाप नहीं हो सकता।

दुराचार आदि पापोंके संस्कार ही दुर्गुणके रूपमें हृदयमें जमते हैं। जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होगा, तब दुर्गुण कैसे जम

सकते हैं, बल्कि पहलेके संचित दुर्गुणोंके संस्कार भी भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे नष्ट हो सकते हैं। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार शयन करनेका अभ्यास करनेसे शयनकाल भी साधनमें परिणत हो सकता है। विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभकी बात है। यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा ?

इसी प्रकार विद्याभ्यास करते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और खेल-कूदके समय भी भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित नाम, रूप और चरित्रको याद रखते हुए ही उपर्युक्त सारी क्रियाएँ करनी चाहिये। जैसे व्रजकी गोपियाँ वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन और मनसे भगवान्‌का स्मरण करती हुई ही घरका सब काम किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गदवाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

अतएव बालकोंको इस प्रकार वाणीके द्वारा भगवान्‌के नाम-गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा मनसे उनका स्मरण करते हुए ही सब

चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारोंका नाश तथा सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परम शान्ति और परम आनन्द मिल सकते हैं। ऐसा करनेमें न तो समयका खर्च है, न पैसोंका ही और न कोई परिश्रम ही है। यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

प्रातःकाल और सायंकाल जो नित्यकर्मके लिये समय निकाला जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन, ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भावकी ओर खयाल रखकर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति और आदरपूर्वक नियमितरूपसे किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है; किंतु जो बिना आदर और बिना मनके साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुवने बड़े आदरपूर्वक साधन किया था, जिसके फलस्वरूप साढ़े पाँच महीनोंमें ही उन्हें भगवान् मिल गये। सौतेली माता सुरुचिके आक्षेपभरे वचनोंने भी उनके हृदयमें उपदेशका काम कर दिया। और जन्म देनेवाली माता सुनीति तथा श्रीनारदजीका उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गये, जिससे वे शीघ्र ही परम पदको प्राप्त हो गये।

इसी प्रकार श्रीनारदजीका उपदेश पाकर भक्त प्रह्लादने निष्कामभावसे भक्ति करके उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की। प्रह्लादने पाठशालामें पढ़ते समय भारी-से-भारी अत्याचारोंको सहते हुए भी भगवान्‌की भक्ति करते और बालकोंको कराते हुए भगवद्दर्शन प्राप्त किया। उनकी भक्तिका प्रभाव देखिये, जहरीले सर्पोंके विष तथा अग्निकी लपटोंका भी उनपर कोई असर नहीं हुआ। इसके सिवा उनपर और भी बहुत-से अत्याचार हुए; किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ। प्रह्लाद मनसे सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते और भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन किया करते थे।

हिरण्यकशिपुके भय, लोभ और त्रास देनेपर भी प्रह्लाद अपनी भक्तिपर डटे ही रहे तथा प्रेमपूर्वक अत्याचारोंको सहते रहे। अतः किसी अत्याचारका प्रतीकार बिना किये ही भक्तिके प्रभावसे सब अत्याचार निष्फल हो गये। यह समझकर बालकोंको बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌के नाम और रूपको याद रखते हुए ही सब काम करते रहना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आदेश दिया है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव बालकोंको भी सब समय भगवान्‌का आश्रय लेकर ही सब काम करना चाहिये।

यहाँ बालकोंके सम्बन्धमें जो बातें कही गयी हैं, वही तरुणोंके और प्रायः बड़ी उम्रवालोंके लिये भी समझनी चाहिये। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकारसे यदि वास्तवमें बालकोंका और तरुणों, प्रौढ़ोंका जीवन बन जाय तो मनुष्य-जीवनकी सर्वाङ्गीण सार्थकता हो सकती है।

——::×::——

श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षासे अनुपम लाभ

बालकोंके चरित्रनिर्माणके लिये आरम्भसे ही उनको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये, जिसमें उनका चारित्रिक पतन तो हो ही नहीं; प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। इसके लिये सदाचारकी और सर्वकल्याणकारी धर्मकी शिक्षा आवश्यक है। ऐसी सर्वोपयोगी धार्मिक शिक्षाके बिना न तो चरित्रनिर्माण होगा और न देश, जाति एवं समाजका हित करनेवाले बालक ही बनेंगे। इस प्रकारके सदाचार और उदार धर्मकी शिक्षाके लिये हमारे यहाँ बहुत ही उत्तम दो ग्रन्थ हैं—एक हिंदीका श्रीरामचरितमानस और दूसरा संस्कृतका श्रीमद्भगवद्गीता। हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति और धर्मकी शिक्षा अमृतके तुल्य है। यह शिक्षा इन दोनों ग्रन्थोंमें भरपूर है। जैसे अमृतका पान करनेवालेपर विषका असर नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन ग्रन्थोंके द्वारा भारतीय उदार आर्य हिंदू-संस्कृति और धार्मिक आदर्शसे अनुप्राणित, शिक्षासे शिक्षित और तदनुसार व्यवहारमें निपुण होनेपर विदेशी और विधर्मियोंकी अनेकों प्रकारकी शिक्षाओंमें जो कहीं-कहीं विष भरा हुआ है, उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतएव बालकोंके लिये श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर आदर्श शिक्षाकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता—ये दो ग्रन्थ हमारे साहित्यके भी अनुपम रत्न हैं और विश्वसाहित्यके भी महान् आभूषण हैं। संसारके अनुभवी बड़े-बड़े प्रायः सभी विद्वानोंने इन दोनों ग्रन्थोंकी

भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः इन दोनों ग्रन्थोंको बालकोंके पाठ्यक्रममें अनिवार्यरूपसे रख दिया जाय तो बालकोंका सुधार होकर परम हित हो सकता है।

दुःख और शोककी बात है कि हमारे देशमें ऐसे अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंके रहते हुए भी बालकोंको अत्यन्त हानिकर पुस्तकें पढ़ा-पढ़ाकर उनके मस्तिष्कमें व्यर्थ बातें भरी जाती हैं। जब अंग्रेजोंका राज्य था, तब तो हमारा कोई उपाय नहीं था। पर अब तो हमारा अपना राज्य है, हमें अपनी इस स्वतन्त्रताका विशेष लाभ उठाना चाहिये। जो अश्लीलता और नास्तिकतासे भरी हुई सदाचारका नाश करनेवाली तथा धर्मविरोधी गंदी पुस्तकें हैं, जिनके अध्ययनसे सिवा हानिके कुछ भी लाभ नहीं है, उन पुस्तकोंको हटाकर जिनमें राष्ट्र, देश, जाति और समाजकी तथा शरीर, मन, बुद्धि और आचार-व्यवहारकी उन्नति हो, ऐसे शिक्षाप्रद ग्रन्थ बालकोंको पढ़ाने चाहिये। बात बनानेके लिये तो बहुत लोग हैं, परंतु बालकोंका जिसमें परम हित हो, इस ओर बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। किन्हीं-किन्हींका इस ओर ध्यान है भी तो परिश्रमशील और विद्वान् न होनेके कारण उनके भाव उनके मनमें ही रह जाते हैं। इस कारण हमारे बालक उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं। कितने ही शिक्षित, सदाचारी, अच्छे विद्वान् भी हैं, किंतु वे मान-बड़ाईके फंदेमें फँसकर या अन्य प्रकारसे विवश होकर अपने भावोंका प्रचार नहीं कर सकते और कितने ही अच्छे शिक्षित पुरुष इस विषयमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं!

अतः अनुभवी विद्वान् सदाचारी देशहितैषी पुरुषोंसे तथा शिक्षा-विभागके संचालकोंसे और वर्तमान स्वतन्त्र सरकारसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे पाठ्य-प्रणालीके सुधारपर शीघ्र ही ध्यान

देकर उसका समुचित सुधार करें, जो कि हमारी भावी संतानके जीवनका आधार है। देशकी उन्नति और उसका सुधार भविष्यमें होनेवाले बालकोंपर ही निर्भर है। आज तो हमारे बालक विद्याके नामपर दिन-प्रतिदिन अविद्याके घोर अन्धकारमय गड्ढेमें ढकेले जा रहे हैं। बालकोंमें आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, निर्लज्जता, अकर्मण्यता, विलासिता, उद्दण्डता, विषयलोलुपता और नास्तिकता आदि अनेक दुर्गुण बढ़ रहे हैं। दुर्गुणोंकी इस बढ़ती हुई बाढ़को यदि शीघ्र नहीं रोका जायगा तो आगे जाकर यह भयङ्कर रूप धारण कर सकती है। तब इसका रुकना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इस बाढ़को रोकनेमें श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता बहुत सहायक हैं। इसलिये बालकोंको इनका अभ्यास अवश्य ही कराना चाहिये।

श्रीरामचरितमानस

बालकोंके पाठ्यक्रममें आरम्भसे ही श्रीरामचरितमानसको शामिल कर देना उचित है; जिससे बालकोंके जीवनपर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान्के आदर्श चरित्रका प्रभाव पड़े और उनका सुधार हो सके। श्रीरामचरितमानसमें सात काण्ड हैं। पहली-दूसरी कक्षाके बालकोंको भाषाका ज्ञान नहीं होता, अतः उन्हें मौखिकरूपसे श्रीरामचरित्रका ज्ञान कराना उत्तम होगा। इसके बादकी तीसरी-चौथी कक्षाओंमें बालकाण्ड, पाँचवीं तथा छठीमें अयोध्याकाण्ड, सातवींमें अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड, आठवींमें लङ्काकाण्ड और नवीं तथा दसवीं कक्षाओंमें उत्तरकाण्ड—इस प्रकार विभाग करके सम्पूर्ण रामायणका अर्थसहित अभ्यास करा दिया जाय तो मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण आदर्श चरित्रोंका और हिंदी

साहित्यका भी ज्ञान प्रत्येक बालकको सहज ही हो सकता है। यदि इस प्रकार न रुचे तो शिक्षक अपनी इच्छाके अनुसार क्रम रख लें। गीताप्रेसकी ओरसे रामायण-परीक्षा-समिति बहुत पहलेसे ही परीक्षाकी पद्धतिसे रामायणके अध्ययनका प्रचार कर रही है। उसका निर्धारित पाठ्यक्रम भी अच्छा है, उसके अनुसार भी क्रम रखकर बालकोंको परीक्षामें सम्मिलित किया जा सकता है, जिससे उनको मानसका ज्ञान हो सके। (परीक्षासमितिके पाठ्यक्रमकी विशेष जानकारीके लिये पाठकगण 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, ऋषिकेश'को पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।) यदि पूरी रामायण न पढ़ा सकें तो सरकार और शिक्षक, जितने अंशको विशेष लाभप्रद समझें, उतने अंशको ही पाठ्यक्रममें शामिल करें, परंतु रामायणका अध्ययन अवश्य कराना चाहिये; क्योंकि रामायणसे हिंदी भाषाका, साहित्यिक शब्दोंका और कविता (छन्द-रचना) का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस भारतीय संस्कृतिका ज्ञान भी हो जाता है, जो कि विशेष लाभप्रद है। रामचरितमानसके दोहे, चौपाइयाँ, सोरठे, छन्द और श्लोक बड़े ही मधुर, सरल एवं काव्यके अलङ्कारादिके सभी गुणोंसे और प्रेमरससे ओत-प्रोत हैं तथा उनका अर्थ और भाव तो इतना लाभदायक है कि जिसकी प्रशंसा करनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं। यह महान् अनुपम ग्रन्थ आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे सब प्रकारसे उपादेय है। इसीलिये अनुभवी विद्वानोंने, संतोंने तथा महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदी भाषामें ऐसा सब प्रकारसे सुन्दर और लाभप्रद ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है—यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगा। अतः

****

सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि तन-मन-धनसे इसका यथाशक्ति अपने कुटुम्ब, गाँव, जिले और देशमें सब प्रकारसे प्रचार करें और स्वयं इसका यथाशक्ति अध्ययन करने तथा इसके उपदेशोंका पालन करनेकी भी चेष्टा करें। जो स्वयं पालन करता है, वही प्रचार भी कर सकता है और उसीका असर होता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसको न तो इसके अमृतमय रहस्यका अनुभव ही हो सकता है, न वह प्रचार ही कर सकता है और न उसका लोगोंपर असर ही होता है।

महात्मा तुलसीदासजीद्वारा वर्णित भगवान् श्रीरामके परम पवित्र, शिक्षाप्रद, अनुपम, अति प्रशंसनीय, अमित प्रभावयुक्त चरित्रका यत्किञ्चित् सारभूत अंश बालकों तथा पाठकोंके लाभके लिये नीचे दिया जा रहा है, जिसका अनुकरण करके लाभ उठाना चाहिये।

बाल-अवस्थामें जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अपने भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय वे अपने भाइयोंको जिता दिया करते और स्वयं हार जाया करते थे। अयोध्याकाण्डमें श्रीभरतजी कहते हैं—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

श्रीतुलसीदासजीने विनय-पत्रिकाके १०० वें पदमें कहा है—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

इस प्रकार श्रीराम अपनी जीतमें भी हार मान लेते थे और छोटे भाइयोंको प्रसन्न करनेके लिये उन्हें प्रेमसे दाँव दिया करते थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी ऐसी स्वार्थत्यागपूर्ण पद्धति बालकोंको सीखनी चाहिये।

जब श्रीरामके सामने युवराजपदकी प्राप्तिका अवसर आया तो उस समय वे कितनी उदारताका व्यवहार करते हैं। अयोध्याकाण्डमें वे कहते हैं—

****

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

'हम सब भाई एक साथ ही जन्मे, खाना-पीना, सोना, खेल-कूद, कर्णवेध, यज्ञोपवीत और विवाह आदि सब उत्सव साथ-साथ ही हुए; किंतु और भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझे युवराजपद दिया जाता है, यह निर्मल रघुकुलकी कैसी अनुचित रीति है।'

इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भाइयोंके साथ समान व्यवहार ही करें।

कैकेयीद्वारा भरतको राजगद्दी और चौदह वर्षके लिये रामको वनवास देनेका वर माँगनेपर महाराज दशरथ अत्यन्त व्याकुल हो गये। उस समय कैकेयीकी आज्ञासे सुमन्त्र श्रीरामको बुलाने गये और शीघ्र ही उन्हें साथ लेकर आ गये। श्रीरामने आते ही पिताजीके मुखको मलिन देखकर उनकी व्याकुलताका कारण पूछा। इसपर माताकैकेयीने आदिसे अन्ततक सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारे पिता तुम्हें वन जानेकी आज्ञा देनेमें संकोच करते हैं, उसी कारणसे दुःखी हैं; और कोई दुःखका कारण नहीं है। तू माता-पिताका भक्त है, अतः पिताकी आज्ञाका पालन करके पिताको क्लेशसे बचा।' इसपर श्रीराम बोले—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें मुनियोंसे मिलना, पिताकी आज्ञा, आपकी सम्मति और प्राणप्यारे भाई भरतको राजगद्दी मिलना—इससे बढ़कर मेरे लिये लाभकी और क्या बात होगी? ऐसे मौकेपर भी मैं 'ना' कर दूँगा तो मूर्खोंकी श्रेणीमें मैं सर्वप्रथम गिना जाऊँगा।' मानसमें भगवान्के वचन इस प्रकार हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इससे हमें विशेष शिक्षा लेनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम वन जाते समय माता कौसल्याके साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, उसमें नीति, धर्म और स्वार्थत्यागका अनुपम भाव भरा है। माता कौसल्या धर्म-शास्त्रके अनुसार, केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ तथा माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये आज्ञा दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

वनगमनके समय श्रीसीताजी भगवान् रामके साथ चलनेकी आज्ञा माँग रही हैं; किंतु भगवान्‌ने वनके भयानक कष्टोंका खयाल करके उन्हें अयोध्यामें ही रहनेके लिये कहा। वे कहते हैं—

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
××× ××× ×××
काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥

इसपर पतिव्रताशिरोमणि सीताने वनके दुःखोंसे भी पतिवियोगजनित दुःखको अधिक मानकर प्रेमपूर्वक वन जानेके

****

लिये ही आग्रह किया। तब भगवान् श्रीरामने सोचा—यदि मैं इसे वनमें साथ न ले चलूँगा तो यह प्राणोंका त्याग कर देगी, किंतु साथ चलनेका आग्रह नहीं छोड़ेगी। यह सोचकर भगवान्ने उन्हें साथ चलनेकी आज्ञा दे दी। मानसमें वर्णित सीताजी और श्रीरामका यह प्रेमपूर्ण संवाद आचरणमें लानेके लिये ध्यान देने योग्य है।

सीताजी कहती हैं—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी॥

जब सीताकी इस प्रकारकी अधीर अवस्था हो गयी, तब—

देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीराम भाई लक्ष्मणको भी माता-पिताकी सेवा करनेके लिये अयोध्या रहनेको कहते हैं—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥

××× ××× ×××

रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी॥

××× ××× ×××

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

××× ××× ×××

****

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

××× ××× ×××

मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

जब लक्ष्मणजीका ऐसा प्रेमपूर्ण अत्यन्त आग्रह देखा, तब भगवान्‌ने लक्ष्मणकी प्रसन्नताके लिये माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर साथ चलनेकी आज्ञा दे दी—

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

यहाँ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंका स्वार्थत्यागपूर्वक भ्रातृ-प्रेम सराहनीय है। उपर्युक्त वनगमनके प्रसंगमें श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम और माता-पिताकी आज्ञाका पालन, राज्यपद-जैसे महान् स्वार्थका त्याग और वनवास-जैसे कष्टको आनन्दका रूप देना आदि आदर्श व्यवहार हैं। इनसे बालकोंको विशेषरूपसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और पिता दशरथने श्रीरामवियोगमें प्राणोंका परित्याग कर दिया। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या आये, तब वे वहाँका ऐसा हाल देखकर अत्यन्त दुःखित हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक पिताकी और्ध्वदैहिक क्रिया की। तदनन्तर माताओं तथा वसिष्ठ आदि गुरुजनोंने राजतिलकके लिये बहुत आग्रह किया, किंतु भरतजीने स्वीकार नहीं किया और कहा—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥

××× ××× ×××

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥

तत्पश्चात् भरत मन्त्री, गुरुजन और माताओंके साथ चित्रकूट गये और भरतने भगवान् श्रीरामसे बड़े ही विनीत-भावसे राजतिलकके लिये प्रार्थना की। चित्रकूटमें श्रीराम और भरतका जो परस्पर मिलन और वार्तालाप है, वह स्वार्थत्यागपूर्वक भ्रातृप्रेमका एक उज्ज्वल उदाहरण है। वे दोनों ही भाई राज्य-पद-जैसे स्वार्थको एक-दूसरेके लिये त्याग रहे हैं! श्रीराम-भरतकी प्रेममयी मिलनावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

××× ××× ×××

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

××× ××× ×××

फिर निषादराजने भगवान्‌से बतलाया—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥

तदनन्तर, गुरु वसिष्ठने भरत-शत्रुघ्नके लिये यह प्रस्ताव रखा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

इसपर श्रीभरतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

****

अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥

×××　　×××　　×××

भगवान् श्रीरामने भरतजीसे अपनी असमंञ्जसता व्यक्त करते हुए कहा—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥

×××　　×××　　×××

श्रीभरतजीने राजतिलकके लिये प्रार्थना की—

देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥

इस प्रकरणसे हमें भ्रातृ-प्रेम और स्वार्थत्यागकी अपूर्व शिक्षा मिलती है। बालकोंको इसे सीखकर लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीराम जब चित्रकूटसे पञ्चवटी पधारे, तब मार्गमें अनेक मुनियोंसे भेंट हुई। उन मुनियोंके साथ भगवान् श्रीरामने बड़ा ही रहस्यमय, मर्यादा, शिक्षा, नीति, धर्म, दया, प्रेम और विनयसे युक्त स्वार्थरहित, अनुकरणीय आदर्श व्यवहार किया।

अरण्यकाण्डमें भगवान्‌का अत्रिमुनिके साथ कितना रहस्यपूर्ण संवाद है—

संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥
धर्म धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथ बादी॥
ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥

****

आगे चलकर भगवान्‌ने मुनियोंकी हड्डियोंके ढेरको देखकर कहा—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

सुतीक्ष्ण मुनिसे मिलनेपर जब मुनिने भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना की, तब—

सुनि मुनि बचन राम मन भाए। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

जब भगवान् श्रीराम अगस्त्य ऋषिके पास जाने लगे, तब सुतीक्ष्णजी बोले—

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई॥

और अगस्त्यमुनिके आश्रमपर पहुँचनेपर—

मुनि पद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिए उर लाई॥

××× ××× ×××

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥

सीताहरणके बाद जटायुके साथ श्रीरामका कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ जो बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

××× ××× ×××

****

राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें। राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥

××× ××× ×××

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामका शबरीके साथ जो प्रेमका बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसा और आदरके योग्य है। भक्तोंके साथ भगवान् कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं, इस बातको यहाँके बर्तावसे जानकर हमें भगवान्‌में अनन्य श्रद्धा और प्रेम करना चाहिये। श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

××× ××× ×××

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीराम-लक्ष्मणका श्रीहनुमान्‌के साथ मिलनका प्रसङ्ग है, वह एक अद्भुत आदर्श है। उससे हमें भगवान्

****

रामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम तथा श्रीहनुमान्‌की श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमका पाठ सीखना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥
को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥

×××   ×××   ×××

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

इसपर भगवान् रामने कहा—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥

×××   ×××   ×××

इसपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥
एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

×××   ×××   ×××

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

×××   ×××   ×××

तथा भगवान् श्रीरामने कहा—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ' हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

तदनन्तर, सुग्रीवसे मित्रता हुई। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयमें भगवान्‌का उपदेश बड़ा अलौकिक है। केवल कथन ही नहीं, कथनके अनुसार उनका व्यवहार भी है। भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए उनसे कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

फिर, जब बालिसे भेंट हुई, तब उसके साथ भी भगवान्‌का नीति, धर्म, दया और प्रेमका बड़ा सुन्दर व्यवहार है। इससे तथा बालिके बर्तावसे भी हमें भक्तिके तत्त्व-रहस्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

****

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥

तब बालिने विनय और प्रेमपूर्वक कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

इसपर भगवान् रामका व्यवहार देखिये—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना। .... ॥

इसपर बालिने कहा—कृपानिधान भगवन्! मेरी बात सुनिये—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

भगवान्‌ने यहाँ बालिके नीतियुक्त वचनोंको सुनकर नीतियुक्त जवाब दिया तथा फिर श्रद्धा, प्रेम और रहस्ययुक्त तात्त्विक वचनोंको सुनकर अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया है। ये दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। इसको देखकर हमलोगोंको भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌ने बालि-जैसे पापीको भी उत्तम गति दी, भगवान्‌के ऐसे विरदसे हमलोगोंको भी आश्वासन मिलता है। अतः कभी निराश नहीं होना चाहिये, वरं भगवत्प्राप्तिके लिये परम उत्साहित होकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये।

अपने साथ प्रेम करनेवालेके प्रति श्रीराम किस प्रकार प्रेम करते हैं, यह देखकर हमें केवल भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करना

****

चाहिये। इस विषयमें श्रीसीताजीका प्रेम आदर्श है। सुन्दरकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे श्रीरामका संवाद सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

×××　　　×××　　　×××

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

भगवान्‌का कितना उच्चकोटिका प्रेम है। ऐसे प्रेम करनेवाले भगवान्‌को छोड़कर जो दूसरेको भजते हैं, उनको धिक्कार है।

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भगवान् श्रीरामको भरतकी स्मृति हुई, क्योंकि भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए भरत भगवान् श्रीरामको याद कर रहे थे; अतः श्रीराम भक्त विभीषणके आग्रह करनेपर भी लङ्कामें नहीं गये। उस समय भगवान् रामके हृदयमें भरतके प्रति अलौकिक प्रेम दिखायी पड़ता था। लङ्काकाण्डमें जब विभीषणने यह प्रार्थना की कि—

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥

तब—

सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥

फिर भगवान् भरतको याद करते हुए विभीषणसे बोले—

तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

इस प्रकारके उत्कट प्रेमको देखकर स्वाभाविक ही मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌से प्रेम करनेका भाव जाग्रत् होना चाहिये।

इसके अनन्तर, जो भरतजीकी विनयपूर्वक विरहकी व्याकुलता है, वह बहुत ही प्रशंसनीय तथा हमलोगोंके लिये अनुकरणीय है। उनकी उस दशाको देखकर श्रीहनुमान्‌का शरीर पुलकित हो गया। भरतका भगवान् राममें केवल भ्रातृप्रेम ही नहीं था, वे भगवद्भावसे भी भावित थे और उनमें भगवान्‌के विरहकी व्याकुलता और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमकी पराकाष्ठा थी। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें उनकी उस प्रेमावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥

××× ××× ×××

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

इसके बाद जब भगवान् श्रीराम अयोध्याके निकट पुष्पक विमानपरसे भूमिमें उतर गये, तब भरतजी वहाँ आये और—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भरतजीके इस प्रसङ्गसे हमें भगवान्‌के विरहमें व्याकुलता,

श्रद्धा, प्रेम, विनय, दैन्य-भाव और निरभिमानताकी शिक्षा लेनी चाहिये।

तत्पश्चात् भगवान्ने सब प्रजाजनोंके साथ कैसा उच्च कोटिका बर्ताव किया कि सबके साथ एक साथ यथायोग्य मिले। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥

×××   ×××   ×××

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

इसके अनन्तर भगवान्का जो प्रजाजनोंके साथ राज्यशासनका बर्ताव है, उसकी तो उपमा भी नहीं दे सकते। आज कहीं भी उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था-प्रबन्ध होता है तो उसके लिये यह कहावत चली आती है कि वहाँ तो 'रामराज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए गोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

इससे हमें, आश्रित जनोंके साथ कैसा बर्ताव करें—यह

****

शिक्षा मिलती है। इसके बाद, भगवान्‌ने प्रजाको उपदेश दिया है। भगवान्‌के वचनोंमें नीति, धर्म, विनय और प्रेम भरा हुआ है। भगवान् कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

सभी पाठक-पाठिकाओंसे तथा जनतासे प्रार्थना है कि श्रीभगवान्‌के उपर्युक्त चरित्र और वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनावें। सरकारसे और विद्वान् अनुभवी शिक्षकोंसे एवं धनी-दानी सज्जनोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि वे श्रीरामचरितमानसका स्वयं अध्ययन और अनुभव करें तथा जनताके हितके लिये स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें रखवाकर इसका प्रचार करें। बालकोंके लिये रामचरितमानसकी शिक्षा बहुत ही आदर्श है। धार्मिक दृष्टिके सिवा काव्य, साहित्य और इतिहासकी दृष्टिसे तथा नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ बहुत ही अनुपम, सब प्रकारसे उपयोगी, सरल और मधुर है तथा चित्तको आकर्षण करनेवाला और सब प्रकारकी शिक्षा प्रदान करनेवाला है। अतः इसका हरेक प्रकारसे प्रचार करना चाहिये। हरेक भाई-बहिनको उचित है कि अपने घरमें भी यह ग्रन्थ

मँगाकर रखें और इसको पढ़ने-पढ़ानेकी कोशिश करें।

श्रीमद्भगवद्गीता

जिस प्रकार बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें रामचरितमानसकी उपयोगिता है, उससे भी बढ़कर गीताकी उपयोगिता है। गीताकी संस्कृत बहुत सरल और मधुर है। श्लोकोंके भाव हृदयग्राही और पक्षपातरहित हैं। उसमें थोड़ेमें ही परमात्माका तत्त्व, रहस्य तथा शिक्षाका सार भरा हुआ है। गीता नित्य-नवीन जीवन पैदा करनेवाली तथा मनुष्यमें मनुष्यत्वका भाव लानेवाली है। इसमें गागरमें सागरकी भाँति ज्ञान, वैराग्य, योग, सद्गुण, सदाचार आदि अध्यात्मविषय तो है ही, इसके सिवा शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक तथा नैतिक शिक्षा और उपदेश भी भरा हुआ है।

शारीरिक शिक्षाका अभिप्राय है शरीर-विषयकी उन्नतिकी शिक्षा। सतरहवें अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस आहार बतलाया है, उनमेंसे राजस-तामसका त्याग करके सात्त्विकका सेवन करना शारीरिक उन्नतिका भी हेतु है तथा छठे अध्यायके १६ वें और १७ वें श्लोकोंमें योगके प्रकरणमें जो अनुचित आहार-विहारके त्याग और उचित सेवनकी बात है, वह शारीरिक आरोग्य और संगठनकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। इसी प्रकार अन्य जहाँ-कहीं शरीर-संगठन, आरोग्य और आयु-वृद्धिके भाव हैं, वे सब शारीरिक उन्नतिमें लिये जा सकते हैं।

बौद्धिक शिक्षासे अभिप्राय है बुद्धिको तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक बनानेवाली शिक्षा। तेरहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें अर्जुनको दार्शनिक विषय सुननेकी प्रेरणा करके उसके

****

बाद जो आदेश दिया है, वह बुद्धिको तीक्ष्ण और निर्मल करनेवाला है। इसी प्रकार अठारहवें अध्यायके २० वें, २१ वें और २२ वें श्लोकोंमें सात्त्विक, राजस, तामस ज्ञानका तथा ३० वें, ३१ वें और ३२ वें श्लोकोंमें बुद्धिका वर्णन है। उनमेंसे राजसी-तामसी ज्ञान और बुद्धिका त्याग करके सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विक बुद्धिका ग्रहण करनेसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। भगवान्ने कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(१८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

यह बौद्धिक शिक्षा है। इसी प्रकार जहाँ-कहीं भी बुद्धिके तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक होनेका प्रकरण है, वह सब बौद्धिक शिक्षाका विषय समझना चाहिये।

जिस व्यवहारसे मनुष्यकी उन्नति हो, वास्तवमें वही असली व्यवहार है। इस प्रकारकी शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा है। भगवान्ने अर्जुनको दूसरे अध्यायके ३१ वेंसे ३८ वें और अठारहवें अध्यायके ४१ वेंसे ४८ वें तकके श्लोकोंमें जो उपदेश दिया है,

उसमें व्यवहारको लेकर शिक्षाकी बातें हैं। इसी प्रकार गीतामें जहाँ-कहीं व्यवहारकी बातें हैं, उनसे व्यावहारिक शिक्षा भी लेनी चाहिये।

न्याययुक्त बर्ताव करना नीति है और इस विषयकी शिक्षा नैतिक शिक्षा है। पहले अध्यायके तीसरेसे ग्यारहवेंतक द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोंमें राजनीति भरी है। दुर्योधन कहता है—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥

(१।३)

'हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।'

यहाँ 'हे आचार्य! व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये'—इस कथनका यह भाव है कि यद्यपि हमारी सेना महान् है, तथापि पाण्डवोंने व्यूहकी रचना इस प्रकार की है कि उनकी सेना अल्प होनेपर भी महान् दीखती है। आप देखिये तो सही, उनकी कैसी अद्भुत चातुरी है।

और 'आपके शिष्य—' यह कहनेका आशय है कि हमारी सेनाकी व्यूह-रचना तो इससे भी बढ़कर होनी चाहिये; क्योंकि उनकी सेनाकी व्यूह-रचना करनेवाला धृष्टद्युम्न आपका शिष्य है, आप उसके आचार्य हैं; जब आपके शिष्यकी ऐसी रचना है तो फिर आपकी रचना तो उससे भी विशेष होनी चाहिंये तथा धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र कहकर दुर्योधन द्रुपदके साथ जो द्रोणाचार्यका वैर था, उस वैरको याद दिलाते हुए युद्धके लिये आचार्यको जोश दिला रहा है, जिससे कि वे तेजीके साथ युद्ध करें।

एवं धृष्टद्युम्नको बुद्धिमान् कहनेका अभिप्राय यह है कि वह

****

यद्यपि आपके मारनेके लिये उत्पन्न हुआ था तो भी आपका शिष्य बनकर उसने आपसे ही युद्धविद्या सीखी, यह उसकी कैसी बुद्धिमत्ता है !

नीतिकुशल दुर्योधनके वचनोंमें इसी प्रकार आगे भी चौथेसे ग्यारहवेंतकके श्लोकोंमें राजनीति भरी हुई है तथा तीसरे अध्यायके १० वेंसे १२वें तक जो ब्रह्माजीके वचन हैं, उनमें शिक्षाप्रद नीतिके वचन हैं और भी जहाँ-कहीं गीतामें नीतिकी बात है, उससे नीतिकी शिक्षा लेनी चाहिये।

गीतामें ऐसी रहस्यमयी शिक्षा भरी हुई है कि जिससे मनुष्य इस लोकमें न्याययुक्त अर्थकी सिद्धि करके अपना शरीर-निर्वाह और मरनेपर परलोकमें उत्तम-से-उत्तम गति लाभ कर सकता है। ऐसा उपदेशप्रद ग्रन्थ संस्कृत भाषामें भी दूसरा कोई देखनेमें नहीं आता, फिर अन्य भाषाओंकी तो बात ही क्या है ! इसकी संस्कृत भाषा और कविताका लालित्य आकर्षक है। जो सदाचारी विद्वान् इसकी गम्भीरतामें गोता लगाते हैं, उनको इसमेंसे नये-नये उपदेशरत्न मिलते ही रहते हैं। गीता सब शास्त्रोंका सार है। इसकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
>
> (महा० भीष्म० ४३ । १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

जिस प्रकार दर्शनशास्त्रके अवलोकनसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उससे भी बढ़कर इस गीताशास्त्रके अनुशीलनसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है; क्योंकि गीतामें दार्शनिक विषय भी उच्चकोटिका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें जो लाभप्रद बातें हैं, उनका तथा श्रुति-स्मृतियोंका भी सार इस गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने कहा है। तेरहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सचेत करते हुए कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

'वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।'

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

गीताके रहस्य और तत्त्वको जाननेवाले सदाचारी विद्वान्, साधु-महात्माओं तथा शिक्षकोंने एवं महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि महिमा गायी है। अतएव बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें गीताका अध्ययन अवश्य रखना चाहिये।

ऋषिकेशमें गीता-परीक्षा-समिति भी कार्य कर रही है, उसके अनुसार पाठशालाओं और स्कूलोंमें बालकोंको गीताकी परीक्षा दिलायी जा सकती है।

****

तीसरी श्रेणीके बाल़कोंको गीताकी प्रवेशिका-परीक्षा दिला सकते हैं, जिसमें केवल दूसरे तथा तीसरे अध्यायको साधारण अर्थसहित कण्ठस्थ करना होता है। चौथी श्रेणीके बालकोंको गीताकी प्रथमा परीक्षा दिलावें, जिसमें गीताके प्रथमसे छठे अध्यायतक है, जिसका सालभरमें अर्थसहित कण्ठस्थ होना सहज है; क्योंकि यदि प्रतिदिन एक श्लोक भी कण्ठस्थ किया जाय तो भी सालभरमें छः अध्याय कण्ठस्थ हो सकते हैं। पाँचवीं कक्षामें गीताकी मध्यमाका प्रथम खण्ड दिलावें, जिसमें अध्याय १ से १२ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनीके आधारपर पहले अध्यायकी व्याख्याका अध्ययन करना होता है। इसमेंसे १ से ६ तकका तो प्रथमामें अध्ययन किया ही जा चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। छठी कक्षामें गीताकी मध्यमाका द्वितीय खण्ड दिलावें, जिसमें अ० १ से १८ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्व-विवेचनी अ० २, ३, ४ की टीका है। इसमें भी १ से १२ तकका तो प्रथमा और मध्यमा प्रथम खण्डमें अध्ययन हो ही चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। सातवीं कक्षामें गीताकी मध्यमाका तृतीय खण्ड दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अ० ५ से ९ तककी टीका है। आठवीं कक्षामें गीताकी उत्तमा परीक्षा दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीता-तत्त्वविवेचनी अध्याय १० से १८ तककी टीका है तथा नवीं और दसवीं कक्षाओंमें गीताविशारदकी परीक्षा दिलावें, जिसमें कई टीकाओंका तुलनात्मक अध्ययन विशेषरूपसे रखा गया है। गीता-परीक्षा-समितिके पाठ्य-क्रमकी विशेष जानकारीके लिये नियमावली ऋषिकेशसे मँगाकर देख सकते हैं।

यदि ऐसा न हो सके तो साधारण तौरपर तो गीता अवश्य ही रखनी चाहिये। दूसरी कक्षामें अध्याय १, २; तीसरी कक्षामें अ० ३, ४; चौथी कक्षामें अध्याय ५, ६; पाँचवीं कक्षामें अध्याय ७, ८; छठी कक्षामें अध्याय ९, १०; सातवीं कक्षामें अध्याय ११, १२; आठवीं कक्षामें अध्याय १३, १४; नवीं कक्षामें अध्याय १५, १६ और दसवीं कक्षामें अध्याय १७, १८—इस प्रकार क्रम रखकर भी पढ़ा सकते हैं। यह क्रम बहुत ही साधारण है; क्योंकि सालभरमें केवल दो अध्यायोंका ही अध्ययन करना होता है और इससे गीताका ज्ञान बहुत सहज ही हो सकता है। साथ-साथ अर्थ और भाव भी सिखलाना चाहिये, जिससे उनके जीवनपर अच्छा असर हो और उनके आचरणोंका सुधार हो।

सरकारसे, शिक्षकोंसे और दानी सज्जनोंसे हमारा निवेदन है कि वे गीताका पठन, अध्ययन, मनन और अनुभव करके स्वयं इसके उपदेशोंको धारण करें तथा दूसरोंको धारण करानेके लिये इसका प्रचार करें एवं स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंमें गीताकी पढ़ाईको भी अनिवार्य करने-करानेकी विशेषरूपसे कोशिश करें।

——::×::——

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता, भगवत्प्राप्तिमें कुछ सामयिक विघ्न और उनसे छूटनेके उपाय

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरणमें और भगवान्‌की सेवामें ही बिताना चाहिये। पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय यों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है। इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमें पश्चात्ताप न करना पड़े।

अतः प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमें विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हम अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओं-की भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमें लगा दें तो हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा। श्रीचाणक्यने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें

एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो, अन्तमें हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस विषयमें श्रुति हमें चेतावनी देती हुई कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनोपनिषद् २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनावें। मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है, वह ईश्वरकी कृपासे हमें प्राप्त हो गया है। ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये। जो काम हमारे बिना हमारे जीवितावस्थामें दूसरे कर सकते हैं, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते हैं, चाहे

वह कैसा भी जरूरी क्यों न हो, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमें और न मरनेपर ही, दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है एवं जिस काममें थोड़ी भी कमी रहनेपर हमें पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही, जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी दूसरेसे भी कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये। वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति। उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुःखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि। अतः इन्हीं कामोंमें अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अधिकतर समयमें यह मन व्यर्थका ही चिन्तन करता रहता है, जो कि हमारे लिये बहुत ही खतरेकी चीज है। अतः मनको व्यर्थ चिन्तनसे हटाकर भगवान्के चिन्तनमें लगाना चाहिये तथा भगवान्के जप-ध्यानके समय हमें जो निद्रा और आलस्य घेर लेते हैं, उनको विवेक, विचार और हठसे हटाना चाहिये। नहीं तो, आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

ईश्वरकी हमलोगोंपर बड़ी भारी अहैतुकी दया है, जो कि हमें

***

उसकी कृपासे मनुष्यका शरीर मिला है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इसपर हमें विचार करना चाहिये। पृथ्वीपर असंख्य जीव हैं, उनमें मनुष्य बहुत ही कम संख्यामें हैं—अत्यन्त परिमित हैं। ऐसे दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर जो मनुष्य आलस्य, प्रमाद, पाप और भोगोंमें अपना जीवन बिताता है, उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है!

ईश्वरकी कृपासे हमें उत्तम धर्म, उत्तम काल, उत्तम देश, उत्तम जाति और उत्तम सङ्ग भी मिला है; क्योंकि वैदिक सनातन धर्म, जिसको हम हिंदू-धर्मके नामसे कहते हैं, सबसे पहलेका यानी अनादि है। अन्य जितने भी मत-मतान्तर धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं—सब इसके बादके हैं और इसीकी सहायतासे बने हैं। इसलिये यह सबसे श्रेष्ठ भी है। तीनों लोकोंमें पृथ्वी श्रेष्ठ है और पृथ्वीमें आर्यावर्त (भारतवर्ष) श्रेष्ठ है, जिसे हम 'हिंदुस्थान' कहते हैं। कभी ऐसा था कि सारी पृथ्वीके लोग इस भारतवर्षसे ही धार्मिक शिक्षा पाया करते थे। मनुस्मृतिमें कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२।२०)

'इसी देश (भारतवर्ष) में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंके पाससे अखिल भूमण्डलके सभी मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।' अतः यह भारत देश अध्यात्मविषयमें सब देशोंमें उत्तम माना गया है और अब भी अध्यात्मविषयमें उत्तम है।

यद्यपि कलियुग महान् अनर्थका मूल और पापोंकी जड़ है; किंतु इसमें एक बड़ा भारी गुण है कि केवल भगवान्की भक्ति करनेसे इसमें मनुष्यका उद्धार हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अध्यात्मविषयक धार्मिक ग्रन्थोंका सङ्ग भी इस समय प्रायः बहुत ही सुलभ है। इस प्रकारकी सब सामग्री पाकर अपनी अकर्मण्यताके कारण हम यदि ईश्वर-प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अतएव हमलोगोंको आलस्य-निद्रा, पाप-प्रमाद, स्वाद-शौक, ऐश-आराम, भोग-विलास, दुर्व्यसन-दुराचार और कलुष-कालिमा आदिको विषके समान समझकर उनका त्याग करना चाहिये तथा भजन-ध्यान, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, सेवा-संयम, सद्गुण-सदाचार, ज्ञान-वैराग्य आदिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सेवन करना चाहिये। एवं भगवान्के नाम, रूप, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य जाननेके लिये उनका श्रवण, पठन, कीर्तन और स्मरण करते हुए मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि मनुष्यका जीवन बहुत ही उपयोगी, दुर्लभ और सर्वोत्तम होनेपर भी है यह क्षणिक। अभी तो है, पर एक क्षणके बादका इसका भरोसा नहीं है। न मालूम काल कब आकर इसका कलेवा कर जाय! मनुष्यका शरीर केवल भोग

भोगनेके लिये ही नहीं है—आहार, निद्रा और मैथुन आदि तो पशुशरीरमें भी मौजूद हैं। फिर मनुष्यके शरीरको पाकर जो आहार, निद्रा और मैथुनमें ही अपना समय बिताता है, वह मनुष्यके रूपमें पशु ही है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

इसलिये मनुष्य-शरीरको पाकर अपना जीवन, शीघ्रातिशीघ्र अपने आत्माका उद्धार हो, उसी काममें लगाना चाहिये। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९।३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस (दुर्लभ) मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

मनुष्यका जन्म इतना मूल्यवान् है कि यदि कोई लाख रुपये खर्च करे तो भी उसे एक क्षण भी नहीं मिल सकता। अतः मनुष्य-जीवनके एक क्षणको भी अमूल्य समझकर व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। समय बीता जा रहा है। ज्ञानियोंको ज्ञानके द्वारा, भक्तोंको भक्तिके द्वारा और योगियोंको योगके द्वारा तथा व्यापारियोंको शुद्ध व्यापारके द्वारा अपने आत्माका कल्याण शीघ्र हो, इसके लिये कटिबद्ध होकर पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

आत्माके कल्याण अथवा परमात्माकी प्राप्तिके शास्त्रविहित अनेकों मार्ग हैं। असलमें मुख्य आवश्यकता है लक्ष्य ठीक रखनेकी। यदि लक्ष्यपर निरन्तर अचूक दृष्टि है तो फिर किसी भी मार्गसे चलकर साधक लक्ष्यतक पहुँच सकता है और अपने

ध्येयको प्राप्त कर सकता है। लक्ष्यकी अचूक दृष्टि उसे मार्गभ्रष्ट होनेसे सदा बचाती रहती है। तुलाधार और नन्दभद्र नामक व्यापारियोंने व्यापारके द्वारा ही अपना उद्धार किया था। तुलाधारकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड और महाभारतके शान्तिपर्वमें तथा नन्दभद्रकी कथा स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डमें आती है। इनका सत्य व्यापार था, सबके साथ समताका व्यवहार था, निष्कामभाव था और व्यापारके द्वारा ही परमात्माको प्राप्त करना इनका साधन था। आज भी यदि कोई इस प्रकारसे व्यापार करे तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि ऐसे निष्कामी पुरुषमें लोभका सर्वथा त्याग होता है, वह कर्तव्यबुद्धिसे या भगवत्प्रीत्यर्थ ही व्यापार करता है—जो भगवत्प्राप्तिका सहज हेतु होता है। जैसे लोभी मनुष्य धनके लोभसे व्यापार करता है, वैसे ही स्वार्थत्यागी सात्त्विक पुरुष संसारके हितको सावधानीके साथ सामने रखते हुए ही कर्तव्यबुद्धिसे या भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यापार करता है। जैसे लोभीके यह भाव रहता है कि रुपये अधिक कैसे पैदा हों, उसी प्रकार निष्कामीके यही भाव रहता है कि लोगोंका अधिक-से-अधिक हित कैसे हो अथवा भगवान्‌में प्रेम या भगवत्प्राप्ति कैसे हो। भगवान्‌की प्रीति और भगवत्प्राप्तिका जो उद्देश्य है, यह कामना होते हुए भी निष्काम ही है। जिस व्यापारमें कामना, आसक्ति, स्पृहा, अहंता, ममताका त्याग है, वही व्यापार या शास्त्रविहित कर्म निष्काम है और भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका यानी अहंता, ममंता, वासना, आसक्ति आदिका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परंतु आजकल कई प्रकारके ऐसे शास्त्रविपरीत भावोंकी आँधी-सी आ गयी है कि जिससे मनुष्य अपने जीवनके असली ध्येयको भूलकर लक्ष्य-भ्रष्ट-सा होकर अन्याय और अधर्मपर उतारू हो गया है। इसीसे समाजभरमें अनेकों प्रकारसे नैतिक और शारीरिक भ्रष्टाचारका विस्तार हो रहा है। बुरे कर्ममें बुराईकी भावना निकलकर उसमें गौरव-बुद्धि होने लगी है। ऐसे ही कुछ विषयोंकी चर्चा यहाँ की जाती है। इनसे पारमार्थिक हानि—साधनपथमें बड़ी भारी रुकावट तो हो ही रही है—सामाजिक पतन भी पराकाष्ठाको पहुँच रहा है तथा लोगोंके संताप-दुःखोंकी वृद्धि हो रही है। इन्हींमें एक विषय है—

****

व्यापारमें सत्य और समताका अभाव

अर्थोपार्जनके जितने साधन हैं—आजकल प्रायः सभी दूषित हो गये हैं। प्राचीन कालमें अर्थोपार्जनके साधनोंमें इतनी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, धोखेबाजी नहीं थी। व्यवहारमें प्रायः सत्य और समभाव था। सत्य और सम व्यवहारका रूप संक्षेपमें यह है—

व्यापार करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना और वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, व्याज और भाड़ा आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना, इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्व (हक) को हड़प लेना—इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य-व्यवहार है।

जैसे असली घीमें बेजिटेबल (जमाया तेल) मिलाना; सरसों, बादाम और नारियल आदिके तेलमें ह्वाइट ऑयल मिलाना; रूई, पाट, ऊन, सुपारी आदिमें जल दे देना अथवा दिखाये हुए नमूनेकी अपेक्षा खराब माल देना, जीरेमें कंकड़ और दाल आदिमें मिट्टी मिलाना, आटेमें खराब आटा या इमलीके बीजोंका चूर्ण मिलाना और दूधमें जल मिला देना आदि भी असत्य-व्यवहार है। इन सबसे रहित जो व्यवहार है, वही पवित्र और सत्य-व्यवहार है।

सबके साथ पक्षपातसे रहित होकर समतापूर्वक व्यवहार करना। एक चतुर व्यापारकुशल व्यक्तिको जिस भावमें वस्तु दी और

ली जाय, उसी भावमें दूसरे भोले व्यापार-ज्ञानशून्य व्यक्तिको भी देना और लेना। सारांश यह कि वस्तुमें तथा मूल्यमें पक्षपात, विषमता या किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना समव्यवहार है।

आजकल धनलोलुपताके मोहमें प्रायः लोग केवल धन कमानेके लिये ही व्यापार करते हैं। उन लोभी मनुष्योंके हृदयमें क्रय-विक्रयके समय यही भाव रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये कैसे मिलें। लोभके दो भेद होते हैं—अनुचित और उचित। अनुचित लोभ तामसी है और उचित लोभ राजसी है। जिस लोभके वशीभूत होकर मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करके अन्यायसे धन-संचय करता है तथा न्यायसे प्राप्त हुए उचित कार्यपर भी खर्च नहीं करता, यह लोभ अनुचित और तामसी है। जो झूठ, कपट, बेईमानीसे तो धनोपार्जन नहीं करता और न न्याययुक्त कार्यके प्राप्त होनेपर खर्च करनेमें कंजूसी ही करता है, किंतु न्यायसे प्राप्त हुए रुपयोंका खूब संग्रह करनेकी इच्छा रखता है, यह लोभ उचित और राजसी है। तामसी लोभके कारण व्यवहारमें सत्य और समता नहीं रही तथा राजसी लोभके कारण समता नहीं रही।

व्यापारियोंका कर्तव्य

व्यापारियोंको चाहिये कि व्यापारमें सदा सचाईका ही व्यवहार करें। जो व्यापार सचाईके साथ किया जाता है, उससे व्यापारकी भी उन्नति होती है; क्योंकि सचाईसे बड़ी अच्छी साख जमती है और सब लोग विश्वास करने लगते हैं। संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे आज संसारभरमें अंग्रेजोंका व्यापार अपेक्षाकृत सच्चा समझा जाता है। इसीलिये वे व्यापारमें बड़े कुशल माने जाते हैं। सचाईके कारण उनके व्यापारकी उन्नति भी काफी हुई है। जिस समय हिन्दुस्थानमें

अंग्रेजोंका राज्य था, उस समय यहाँ अंग्रेजोंका व्यापार भी बहुत था। आयात-निर्यातका तथा कुछ दिनों पहलेतक जूट आदि मिलोंका अधिकांश व्यापार उन्हींके हाथमें था। उस समय उनकी व्यापारी-सचाईके पद-पदपर प्रमाण मिलते थे। कपड़े, सूत, रूई आदिके, सरसों, तीसी, तिल आदि तेलहनके या गेहूँ, चावल आदि गल्लेके व्यापारमें बड़ी मंदी-तेजी होनेपर भी अंग्रेज व्यापारी बहुत बड़ा घाटा सहकर भी अधिकांशमें कभी बेईमानी नहीं करते थे। बिलायतसे बहुत कपड़ा आता था, पर अत्यधिक बाजार तेज होनेपर भी वे न तो सूतमें खराब रूई देते थे, न कपड़ेमें सूत कम देते थे और न नापमें ही कम देते थे। कुछ भी खराबी होती या नापमें कपड़ा जरा भी कम होता था तो उसका तुरंत बट्टा कर देते। वे तेज बाजारमें मंदेमें बेचा हुआ माल देनेसे और मंदे बाजारमें तेजमें लिया हुआ माल लेनेसे कभी इन्कार नहीं करते थे। अंग्रेज मिलवाले इसका भी ध्यान रखते थे कि बाजार मंदा हो जानेपर लेनेवालोंको नुकसान न हो। किसीको दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम दे देते तो फिर लोभके कारण कभी वे ऐसा मौका नहीं ढूँढ़ते थे कि थोड़ी-सी कोई भूल दीख पड़े तो उससे दलाली, एजेंसी या बेनियनशिपका काम छुड़ाकर स्वार्थवश किसी दूसरेको दे दें। इसी सचाई तथा सद्व्यवहारसे लोगोंपर उनका प्रभाव था। इस कारण लोगोंका उनमें इतना विश्वास था कि लोग अधिक दाम देकर या कम दाम लेकर भी उन्हींसे माल खरीदना-बेचना चाहते थे। अब भी अधिकांश यही बात है।

इन्कमटैक्सके विषयमें भी उनके बहीखाते तथा रजिस्टरोंपर सरकार विश्वास करती थी। अब भी उनके बहीखाते और रजिस्टरोंके विषयमें हिंदुस्थानियोंकी अपेक्षा जनता और सरकार अधिक विश्वास

***

करती है। हमारे व्यापारी भाइयोंको भी सत्य तथा परहितपर ध्यान देकर व्यापारका सुन्दर आदर्श रखना चाहिये। इसीमें सब प्रकारसे गौरव है। यदि पूर्ण सचाईके व्यापारके साथ निष्कामभाव भी रहे तो अन्तःकरण शुद्ध होकर उस व्यापारके द्वारा ही अति शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है।

इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले सभी भाइयोंको यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्याय, अधर्म तथा असत् कमाईका पैसा कभी न आने दें तथा किसी भी निर्दोष पेशेको भगवत्पूजारूप कर्म बनाकर निष्कामभावसे उसे करते हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप परमफल लाभ करके मानव-जीवनको सफल बनावें।

गंदा साहित्य और सिनेमा

इधर शारीरिक और मानसिक पवित्रताका नाश करनेवाले गंदे साहित्य और मनोरञ्जनके नामपर चलनेवाले गंदे चलचित्रों—सिनेमासे हमारे चरित्रका बड़ी बुरी तरहसे नाश हो रहा है। चरित्र ही नहीं—समय, अर्थ, स्वास्थ्य तथा धर्मका भी इनके कारण बड़ी तेजीसे ह्रास हो रहा है। इनसे समाजभरमें आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक पतन हो रहा है। बहुत-से लोग, जो घरकी स्त्रियोंको और बाल-बच्चोंको थियेटर-सिनेमा आदिमें साथ ले जाते हैं, वे बहुत भूल करते हैं। वे अभी इस परिणामको नहीं सोच रहे हैं कि सिनेमाके बीभत्स और अश्लील चरित्र और चित्रोंको देखकर सबकी बुद्धि विचलित और भ्रष्ट हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसे अश्लील दृश्य आते हैं कि उन्हें देखकर बच्चे माता-पिताके सम्मुख और माता-पिता बच्चोंके सम्मुख लज्जित हो जाते हैं। इसका परिणाम

यह होता है कि माता-पिता और बालकोंके परस्पर न्यायोचित शील-संकोचका भी ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्यपर भी बहुत बुरा असर पड़ता है। धन और मनुष्य-जन्मके अमूल्य समयका अपव्यय तो प्रत्यक्ष है ही।

यदि यह कहा जाय कि धार्मिक सिनेमा देखनेमें तो लाभ ही है तो ऐसी बात नहीं है। प्रथम तो सिनेमामें शुरूसे लेकर आखिरतक प्रायः सभी लोगोंका उद्देश्य दर्शकोंके चित्तको आकर्षित करके धन कमाना है। इसलिये उसमें सच्ची धार्मिकता कभी नहीं आ सकती। दूसरे, अभिनेता-अभिनेत्री चाहे कैसे भी हों, उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सब इन्द्रियविजयी हैं और धार्मिक भावनासे ही सिनेमामें आये हैं। जवान उम्र, रात-दिन शृङ्गारके वातावरणमें रहना, वैसे ही अभिनय करना, शौकीनी तथा विलासके लिये स्वतन्त्रता, रूप-सौन्दर्यका विज्ञापन, धनकी अधिकता—ये सभी ऐसे कारण हैं, जो मनुष्यको कर्तव्यभ्रष्ट करके प्रमादमें नियुक्त कर सकते हैं। ऐसे वातावरणमें रहनेवाले नट-नटियोंसे शुद्ध धार्मिक भावनाकी प्राप्ति दर्शकोंको होगी, यह आशा करना सर्वथा व्यर्थ है।

बड़े खेदकी बात तो यह है कि कोई-कोई माता-पिता तो धनके लोभसे अपने तरुण बालक-बालिकाओंको सिनेमाके नट-नटी बनानेमें भी सहमत हो जाते हैं; जो कि बहुत ही खतरनाक है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इसका परिणाम क्या होगा। सच्ची बात तो यह है कि जो तरुण-तरुणियाँ सिनेमा-क्षेत्रमें अभिनय करते हैं और इसमें धनलाभ तथा मान-सम्मान प्राप्त करके गौरव मानते हैं, वे अपने-आपको विषयभोगरूपी आगमें झोंककर स्वयं ही अपना नैतिक और धार्मिक पतन कर रहे हैं! जैसे सौन्दर्यके लोभी शलभ

(फतिंगे) दीपककी शिखा देखकर सुख-भोगकी दृष्टिसे उसके समीप जाते हैं और तड़प-तड़पकर मरते तथा जलकर भस्म हो जाते हैं, वैसी ही दशा यहाँ होती है। वे कीड़े तो भविष्यके दुष्परिणामका ज्ञान न होनेसे सहज ही कालके कलेवा बन जाते हैं, परंतु जो मनुष्य होकर भी भविष्यके दुष्परिणामको बिना सोचे नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुख और भोगके लिये ऐसे कार्योंमें सम्मिलित होते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय ! ईश्वरने विवेक और बुद्धि दी है, मनुष्य होकर भी हम यदि उस विवेक-बुद्धिसे काम न लें तो यह हमारे लिये बहुत ही लज्जा, दुःख और परितापकी बात है।

रात-दिन जिस प्रकारके वातावरणमें मनुष्य रहता है और जैसा काम करता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है। फिर उसके मनमें भी वही वातावरण छा जाता है और बार-बार वही दृश्य सामने आते रहते हैं। इस निश्चित सिद्धान्त तथा अनुभवके अनुसार गंदे सिनेमाके नट-नटियोंके तथा उनके दर्शकोंके मनमें भी वैसा ही जगत् बन जाता है और उनका सहज ही नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन होता है। आजकल जो गली-गलीमें दीवालोंपर सिनेमाके शृङ्गारचित्र चिपके रहते हैं, दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें सिनेमाओंके सचित्र विज्ञापन रहते हैं तथा बड़े-बड़े शहरोंमें तो बड़ी बारातकी तरह बड़े समारोह और गाजे-बाजेके साथ घूम-घूमकर सिनेमाओंका विज्ञापन किया जाता है, इन सबको देख-सुनकर स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके मनोंमें दबे हुए दुर्भाव जाग्रत् हो जाते हैं और नये-नये बुरे भाव और बुरे संस्कार उत्पन्न होते और अपना घर कर लेते हैं, जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाता है। इस प्रकारकी हानिकारक मनोरञ्जनकी वृत्तिको, जो भविष्यमें विनाश करनेवाली है, तुरंत रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये,

नहीं तो इनके बुरे संस्कार जमकर बहुत बुरा परिणाम होना सम्भव है। कला और मनोरञ्जनके नामपर लोगोंका इस प्रकारका पतन न तो वस्तुतः किसी सरकारको इष्ट होना चाहिये, न सिनेमा आदिमें अभिनय करनेवालोंके हितैषी माता-पिता (अभिभावक) आदिको ही और न दर्शकोंको ही; पर इस समय तो सभी ओर मानो मोह-सा छाया है। देशका दुर्भाग्य है !

अभिनय करनेवाली लड़कियोंके अङ्गसंचालन और कामोत्तेजक दृश्योंसे युक्त चित्र और चरित्रोंको देखकर हजारों मनुष्य उनपर पाप-दृष्टि करते हैं। इस बातको समझकर उनके माता-पिताओंको लज्जा आनी चाहिये और अपमानका बोध होना चाहिये। यह प्रवृत्ति यों ही बढ़ती गयी तो पता नहीं आगे चलकर समाजकी क्या दशा होगी। व्यसनमें फँसे हुए लोगोंकी दुर्दशाकी भाँति गंदे सिनेमाके शौकीनोंका नैतिक, धार्मिक और सामाजिक पतन ही सम्भव है।

आजकल सिनेमाकी प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि बहुत-से नर-नारी घर-द्वार फूँककर, धर्म-कर्म खोकर, माता-पितासे लड़-झगड़कर और शील-संकोच, लज्जा-मर्यादाका नाश करके भी सिनेमा देखते हैं। मजदूर लोग भी मनोरञ्जनके नामपर कठिन मजदूरीके पैसे सिनेमामें बरबाद करके अपना पतन करते हैं और बहुत-से बालक चोरी करके सिनेमा देखते हैं। मनोरञ्जनके नामपर समाजमें चौतरफा फैला हुआ यह रोग बड़ा ही भयानक है।

अंग्रेजी सिनेमाओंमें तो पात्रोंके अङ्गसंचालनके साथ नग्न स्वरूप भी दिखाये जाने लगे हैं। इनको देखकर कौन ऐसा संयमी पुरुष है, जिसके मनमें विकार उत्पन्न होकर पतन न हो। क्या यह वाञ्छनीय है कि मनोरञ्जनके नामपर सिनेमाके इस पापको यों ही उत्तरोत्तर बढ़ने दिया जाय और हमारा तरुणसमाज उसका बुरी तरह

शिकार होकर अपने जीवनसे हाथ धो बैठे और हमारे राष्ट्रका भविष्य अन्धकारमय हो जाय ?

अतः सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि इन बातोंपर सरकारको ध्यान देना चाहिये और सेंसर-बोर्डको बड़ी कड़ाईके साथ काम लेकर इस बुराईकी बाढ़को मजबूत बाँध बाँधकर तुरंत रोक देना चाहिये; जिससे जनता सामाजिक, नैतिक और आर्थिक हानिसे बच सके।

आजकल हमारे कुछ लेखक भी ऐसे साहित्यका निर्माण कर रहे हैं, जिसको पढ़नेपर पढ़नेवालेके मनमें विकार उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता ! ऐसे विकारोंसे बल, बुद्धि, स्मृति, ज्ञान, तेज और आयुका विनाश होना और नाना प्रकारके रोगोंका शिकार हो जाना अनिवार्य हो जाता है।

सिनेमाका असर हमलोगोंके वर्तमान जीवनपर बहुत ही बुरा पड़ रहा है। लोग अपने कपड़े और पोशाकपर भी सिनेमाके चित्र बनाने लगे हैं तथा जिन कपड़ोंको पहननेमें भले घरकी महिलाएँ लज्जा करती हैं, उन्हीं कपड़ोंको हमारी युवती बालिकाएँ पहनने लगी हैं। यह कितना भारी पतन है।

इतना ही नहीं, हमारे समाजमें इस समय नास्तिकताका भी जोरोंसे प्रचार किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप कुछ लोग धर्म, कर्म, ईश्वर, ज्ञान, वैराग्य, हिंदू-संस्कृति, सदाचार और सद्गुणोंको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे हैं तथा बिना सोचे-समझे ही प्राचीन कालसे चली आयी हुई आदर्श मर्यादाको आडम्बर कहने लगे हैं ! यही स्थिति बनी रही तो भविष्यमें उच्छृङ्खलता तथा धर्मविरोधी वातावरण और अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ सकती है। अतः हमें सचेत होकर इस बढ़ती हुई गतिको रोकना चाहिये। इस प्रकारकी हानि

देखकर भी यदि हमारी आँखें नहीं खुलेंगी तो फिर कब और कैसे खुलेंगी ?

जब मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह भलेको बुरा और बुरेको भला देखने लगता है, तब उसका सुधार होना कठिन हो जाता है; क्योंकि जो मनुष्य बुराईको बुराई मानता है, उसका तो सुधार हो सकता है; किंतु जो बुराईको भलाई मान बैठता है, उसका सुधार कठिन है। अतः लोक और परलोकमें कल्याण चाहनेवाले भाई-बहिनोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि उन्हें न तो स्वयं ऐसे नाटक-सिनेमा देखने चाहिये और न अपने बालक-बालिकाओंको ही दिखाने चाहिये। इनकी बुराइयोंको समझकर स्वयं इनका त्याग करेंगे, तभी अपने बालक-बालिकाओंको रोक सकेंगे। बालक अनुकरणप्रिय तो होते ही हैं, पर बुरी बातोंका असर उनपर जितना जल्दी होता है उतना अच्छी बातोंका नहीं होता। जितनी बुराइयाँ हैं, आरम्भमें क्षणिक सुखकारक होनेसे अमृतके तुल्य दीखती हैं, पर उनका परिणाम विषके तुल्य है और जो भलाइयाँ हैं, वे साधनकालमें कठिन होनेसे विषके तुल्य दीखती हैं, पर परिणाममें वे अमृतके तुल्य हैं। इसलिये जो वर्तमानमें सुखदायी प्रतीत होती है, उसीको लोग अज्ञानसे ग्रहण करते हैं। जैसे रोगी कुपथ्यका परिणाम न देखकर कुपथ्य कर लेता है, उसी तरह विषयासक्त पुरुष भी परिणामको नहीं देखते और विनाशकारी प्रवृत्तियोंमें पड़कर अपने जीवनको पतनके गर्तमें डाल देते हैं; किंतु जब परिणाममें दुःख पाते हैं, तब घोर पश्चात्ताप करते हैं; पर फिर उस पश्चात्तापसे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

अतएव समस्त नर-नारियोंसे पुनः सविनय प्रार्थना है कि ऐसे सिनेमा-नाटक आदिको न तो देखना चाहिये और न किसीको

दिखाना चाहिये तथा न इसके लिये अभिरुचि ही पैदा करनी चाहिये।

विधवाओंके धनपर अनुचित लोभ

जब बुराई आती है, तब चारों ओरसे आया करती है। अन्यान्य पापोंके साथ समाजमें एक पाप और बढ़ रहा है, जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिसे तो महान् हानिकर है ही, परमार्थ-पथका भी महान् प्रतिबन्धक है। वह है—विधवा बहिनोंके प्रति घरवालोंका दुर्व्यवहार। सचमुच विधवा माता-बहिनोंकी आज बड़ी ही दयनीय दशा है। सभ्य, इज्जतदार और सुशील विधवा बहिनोंकी इस दुःखमय दुर्दशाको देखकर, जिसके हृदयमें थोड़ी भी दया होती है, उसका हृदय भी द्रवीभूत हो जाता है। बहुत-सी विधवाओंकी बातें सुनकर तथा उनकी दुर्दशाको स्वयं देखकर यहाँ आज उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है। गरीब घरोंकी तो बात ही क्या है, जो धनी कहलाते हैं और अपनेको इज्जतदार मानते हैं, उनमेंसे भी अधिकांश भाइयोंका विधवाओंके साथ व्यवहार बहुत ही नीचे दर्जेका हो रहा है। विधवाओंपर जो अत्याचार हो रहे हैं, उनको सुनकर प्रत्येक हृदयवान् प्राणीको वेदना होती है और उनके दुःखको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँ मैं कुल-शीलकी मर्यादाके खयालसे किसीका नाम नहीं बतलाकर विधवाओंपर होनेवाले अत्याचारोंकी कुछ बातें बतलाता हूँ।

विधवा स्त्रियोंके आभूषण, पतिकी मृत्युके अवसरपर ससुराल और नैहरवाले शरीरनिर्वाहके लिये सहायताके रूपमें जो कुछ देते हैं वह धन तथा ससुराल और नैहरसे विवाह, द्विरागमन आदिके समय मिले हुए रुपये, जेवर और वस्त्र एवं जीवितावस्थामें पति

अपनी जीवन-बीमा बेचकर उसका उत्तराधिकार अपनी स्त्रीको दे जाता है वह धन तथा इसके अतिरिक्त भी जो विधवा स्त्रीकी खास सम्पत्ति होती है, वह सभी स्त्रीधन है। इस सब धनके रहते हुए भी विधवा स्त्री अन्न और वस्त्रके लिये दुःखी देखी जाती है। इसका कारण यह है कि विधवाकी यह सारी सम्पत्ति या तो विधवाके ससुरालवालोंके अधिकारमें रहती है या नैहरवालोंके। जिनमेंसे कई ससुरालवाले तो बलपूर्वक विधवाकी सम्पत्तिपर अधिकार जमा लेते हैं। कुछ तो इतने दुष्ट होते हैं कि उसका इतना धन होनेपर भी, वह चाहे अन्न-वस्त्रके बिना दुःख पावे, कितनी रोवे-कलपे, वे उसे कुछ भी नहीं देते और कह देते हैं कि 'तेरा केवल खानेमात्रके लिये कुछ रुपये मासिक लेनेभरका ही अधिकार है, धन-सम्पत्तिपर नहीं।' इस प्रकार सूखा जवाब दे देते हैं और फिर खानेके लिये मासिक खर्च भी नहीं देते। वह बेचारी असहाया स्त्री रोती हुई अपना दुःखमय जीवन बड़े कष्टसे बिताती है। लोक-लाजके खयालसे वह उनपर दावा भी नहीं करती और यदि दावा करे भी तो उसे कोई मदद भी नहीं देता। ऐसी स्त्रियोंके लिये कोई ऐसा वकील-बैरिस्टर भी नहीं, जो बिना फीस लिये ही उत्साहके साथ उनका कार्य कर दे; वे भोली-भाली स्त्रियाँ न तो कुछ जानती ही हैं और न नैहर तथा ससुरालवालोंके कुलकी लाजसे स्वयं कोर्टमें जाकर अपने हकका दावा करनेका नाम लेती हैं। कहीं ऐसा कुछ करनेकी बात भी कह दे तो उसकी सम्पत्तिको हजम करनेवाले वे लोग उसे और भी तंग करने लग जाते हैं। दूसरा आदमी कोई सहायता करता ही नहीं। कोई करना चाहता है तो वे लोग उसको भी गालियाँ देते हैं।

इस प्रकारका व्यवहार इस समय, जो बड़े इज्जतदार माने जाते हैं, उन लोगोंमें भी हो रहा है; इसका अर्थ यह नहीं कि सभी ऐसा

करते हैं। ईश्वर और धर्मको माननेवाले कई अच्छे लोग भी हैं। कुछ नैहरवाले यह चेष्टा करते हैं कि यह ससुरालसे सारी धन-सम्पत्ति लाकर हमारे पास रख दे। माता-पिताको छोड़कर उन सम्पत्तिके रक्षक बने हुए भाई-बन्धुओंमें भी कई ऐसे होते हैं, जो उसकी धन-सम्पत्तिको हड़प लेते हैं और वह विधवा बेचारी रोती ही रह जाती है। संकोचके मारे वह कुछ भी कह नहीं सकती और भीतर-ही-भीतर रोती रहती है। ऐसी कई स्त्रियोंकी घटनाएँ स्वयं मैंने देखी-सुनी हैं, उनमेंसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

एक इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री है, उसकी अवस्था करीब बीस वर्षकी है। उसके पतिका देहान्त होनेपर उसके नैहर और ससुरालवालोंने विधवाको सहायता देनेकी पद्धतिके अनुसार भविष्यमें जीवन-निर्वाहके लिये कुछ रुपये दिये थे, वे रुपये तथा उसके पतिकी जीवन-बीमाके पाँच हजार रुपये और उसके कीमती वस्त्रादि बेचकर जो रुपये मिले, वे सब उस स्त्रीके जेठ (पतिके बड़े भाई) ने विधवा स्त्रीको ब्याजके लोभके बहानेसे फुसलाकर उससे ले लिये तथा बादमें माँगनेपर यह उत्तर दिया कि 'अभी हमारे पास रुपये नहीं हैं, जब होंगे, तब देंगे।' उसके लिये कई अच्छे पुरुषोंने चेष्टा भी की, किंतु उनको भी यही जवाब मिला कि 'जब होंगे तब देंगे।' यह घटना पतिके मरनेके दो ही सालके अंदर हो गयी। वे उसको इन रुपयोंका ब्याज भी नहीं देते। अब बताइये, वह बेचारी विधवा अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करे ?

एक दूसरी गरीब विधवा स्त्री करीब अठारह वर्षकी है, उसके पतिकी मृत्यु होनेके बाद उसके नैहर और ससुरालसे जो जेवर, वस्त्र आदि विवाह तथा द्विरागमनमें मिले थे, उनपर उसके सास-ससुर पहलेसे ही अधिकार किये हुए हैं और उसका पिता गरीब है। वह

बेचारी अपने पिताके यहाँ ही है। उसके सास-ससुर उसे उसका स्त्रीधन भी नहीं देते और न मासिक खर्चके लिये ही कुछ देते हैं।

एक अन्य इज्जतदार घरकी विधवा स्त्री करीब पचीस वर्षकी है। उसके ससुर और पुत्र भी मर चुके हैं। उसके गहने, कपड़े, धन, मकान आदि चल-अचल सारी सम्पत्तिपर उसके जेठ-जेठानी (पतिके बड़े भाई और भाभी) अधिकार किये बैठे हैं, उसे कुछ भी नहीं देते। गहना-कपड़ा भी नहीं देते और न चल-अचल सम्पत्तिका हिस्सा ही देते हैं।

इन तीनों स्त्रियोंका जो हाल ऊपर लिखा गया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है। सैकड़ों-हजारों ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त विधवा बहिनें हैं। यहाँ स्थान-संकोचसे अधिक उदाहरण नहीं दिये जाते। सोचिये, ऐसी अवस्थामें उन विधवा बहिनोंका जीवन-निर्वाह किस प्रकार हो। ऐसी बहिनोंको अदालतमें जानेके लिये भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अदालतमें जानेसे धन, धर्म और इज्जत बर्बाद होती है तथा बुद्धिकी कमी होनेसे वे अदालतमें जा भी नहीं सकतीं और यदि जायँ तो उनकी सहायता भी कौन करे। उनकी दयनीय दशाको देखकर कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा, जिसके हृदयमें कुछ दयाका संचार होकर अश्रुपात न हो।

कुलीन घरोंकी गरीब स्त्रियाँ तो और भी दुःखी हैं, उनको दूसरोंसे सहायता लेनेमें भी बड़ी लज्जा आती है; किंतु अभावके कारण लेनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी विधवा माताओंके लिये जो भाई मासिक सहायता देते हैं, वे धन्यवादके पात्र हैं। सभी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपनी जानकारीमें जो कोई दुःखी विधवा माता-बहिन हों, उनकी यथाशक्ति तन, मन, धनसे कर्तव्य समझकर सहायता करें।

दहेजसे हानि

इस समय कन्याओंके विवाहका प्रश्न भी बहुत ही जटिल हो रहा है; क्योंकि हमारे देशमें दहेजकी प्रथाने भयानक रूप धारण कर लिया है। लड़केके अभिभावक कन्यावालोंसे अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति लेना चाहते हैं और कन्यावालोंको कहीं-कहीं ऋण और सहायता लेकर भी विवाह करना पड़ता है, नहीं तो उस कन्याका विवाह होना कठिन हो जाता है। कोई-कोई लड़की तो अपने माता-पिताकी गरीबीको देखकर उनके दुःखसे दुःखी होकर आत्महत्यातक कर लेती है! किसी लड़कीके गरीब माता-पिता उस लड़कीके विवाहयोग्य धन न होनेके कारण ऐसी भावना करने लगते हैं कि लड़की बीमार होकर किसी प्रकार मर जाय तो ठीक है और यदि लड़की बीमार हो जाती है तो उसका उचित औषधोपचार भी नहीं करते। इन सबमें प्रधान हेतु दहेजकी कुप्रथा है।

इन उपर्युक्त हत्याओंका पाप अनुचित दहेज लेनेवालोंको लगता है। जो बिलकुल दहेज नहीं लेता, वह तो अपना जीवन सफल बनाता ही है; दहेज देनेवाले लड़कीका अभिभावक जितना देना चाहे, उससे कम लेनेवाला भी धन्यवादका पात्र है। अपने द्वारा प्रतीकार करनेपर भी दहेज देनेवाला प्रसन्नतापूर्वक आग्रह करके जो कुछ देता है, (अवश्य ही पता यह लगा लेना चाहिये कि इसके देनेमें इसको ऋणग्रस्त होना या घर-जमीन बेचने तो नहीं पड़े हैं।) उसीको लेकर संतुष्ट हो जाता है, उसे भी हम उतना दोषका भागी नहीं मानते; किंतु जो विवाहके लिये मोल-तौल करता और अधिक-से-अधिक लेना चाहता है तथा अधिक देनेवालेकी लड़कीसे ही विवाह करता है और लड़कीवाला अपनी सामर्थ्यके अनुसार लड़केवालेको देकर संतोष कराना चाहता है, इसपर भी

लड़केवालेको संतोष नहीं होता, ऐसे पुरुष ही उपर्युक्त पापके भागी होते हैं।

अतएव सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि वर्तमानमें जो दहेजप्रथा उत्तरोत्तर बढ़ रही है, इस बढ़ती हुई बाढ़को जिस किसी प्रकारसे यथाशक्ति रोकनेकी चेष्टा करें, नहीं तो समाजका पतन और विनाश होनेकी सम्भावना है। विशेषकर हमारी प्रार्थना दहेज लेनेवालोंसे है कि वे दहेज लेनेका यथाशक्ति त्याग करें। जितना वे त्याग करें, उतने ही वे धन्यवादके पात्र हैं। दहेजका दिखावा भी दहेज-प्रथाके चालू रहने तथा बढ़नेमें कारण है, उसे भी तुरंत बंद कर देना चाहिये।

यह सोचना चाहिये कि मनुष्यके जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। इस भगवत्प्राप्तिके साधनमें परस्पर सहायता करना सबका धर्म है। जो ऐसा न करके किसीके हृदयमें महान् चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं, वे वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर देते हैं। जबरदस्ती दहेज लेनेवाले लोग कन्याके पिताके हृदयमें चिन्ता उत्पन्न करके उसे परमार्थसे भी गिरा देते हैं। इसलिये दहेजकी प्रथा बंद होनी चाहिये।

साधनकी आवश्यकता

ऊपर थोड़े-से बहुत बड़े-बड़े पापरूप विघ्नोंकी चर्चा की गयी है। दोष तो और भी बहुत आ गये हैं। अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान, चरित्रनाश, गुरुजनोंका अपमान, सदाचारका अभाव, हिंसा-प्रतिहिंसा-वृत्ति, असंतोष, अनुशासनहीनता, दलबंदी, ईर्ष्या और द्रोह आदि बहुत-से दोष बड़ी तेजीसे समाजमें बढ़ रहे हैं। ईश्वर तथा धर्मके प्रति आस्थाका अभाव होता जा रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर मन-इन्द्रियोंकी गुलामी बढ़ रही है। यम-

नियमका पालन घट रहा है। ये सभी देशके नैतिक पतन और सर्वाङ्गीण दुर्दशाके प्रमाण हैं और लौकिक, पारलौकिक तथा पारमार्थिक हानिके पोषक हैं। इन सबसे बचना और समाजको बचाना सबका परम कर्तव्य है। इसी उद्देश्यसे क्षुद्र प्रयासके रूपमें गोरखपुरमें 'साधक-संघ' के नामसे एक संगठन किया गया है, जिसमें सम्मिलित होनेके लिये सोलह नियम त्याग करनेके और बारह ग्रहण करनेके बनाये गये हैं। नियम निम्नलिखित हैं। जो इन नियमोंमेंसे सबका या कमका पालन करना चाहें, वे इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता, नियमपालन ही शुल्क है। नियम ये हैं—

साधनके नियम

त्याग करनेके नियम

(१) *पराये अहितका त्याग*—जान-बूझकर किसीका अहित न करना।

(२) *असत्यका त्याग*—जान-बूझकर असत्य नहीं बोलना।

(३) *परस्वापहरणका त्याग*—जान-बूझकर किसी दूसरेका हक न लेना।

(४) *परस्त्रीका-परपुरुषका स्पर्शत्याग*—जान-बूझकर पुरुषके लिये परस्त्रीका स्पर्श न करना और स्त्रीके लिये पर-पुरुषका स्पर्श न करना। माता, दादी, नानी आदि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और पिता, बड़े भाई, पुत्र आदि पुरुषोंका स्पर्श इस नियममें विशेष बाधक नहीं है। बीमारीकी दशामें वैद्य, डाक्टर या परिचारक स्पर्श कर सकता है।

(५) *क्रोधका त्याग*—मनमें भी क्रोध न आवे तो सर्वोत्तम है, पर मनमें आ भी जाय तो उसकी क्रिया बाहर न हो; क्रोध

आनेपर मिथ्या, कठोर और अपशब्द न बोले या ऐसी अन्य चेष्टा (मारपीट) आदि भी न करे।

(६) *परापवादका त्याग*—जान-बूझकर किसीकी चुगली या निन्दा न करना।

(७) *मिथ्या साक्ष्यका त्याग*—झूठी गवाही नहीं देना।

(८) *अश्लील विनोदका त्याग*—गंदी हँसी-मजाक न करना।

(९) *चर्मसेवनका त्याग*—चमड़ेको व्यवहारमें बिलकुल न लाना (मोटर, रेल, रिक्शा आदिके लिये यह नियम लागू नहीं है)।

(१०) *मादक वस्तुका त्याग*—तम्बाकू, बीड़ी, भाँग, गाँजा, चरस आदिका सेवन न करना (बीमारीके लिये मनाही नहीं है)।

(११) *समय नष्ट करनेकी प्रवृत्तिका त्याग*—ताश, चौपड़ आदि न खेलना, जहाँतक हो व्यर्थकी बातें न करना।

(१२) *वेश्या-नृत्य-त्याग*—वेश्याका नाच न देखना।

(१३) *सदाचारनाशक चित्रपटोंका त्याग*—सिनेमा बिलकुल ही न देखना।

(१४) *द्यूत-त्याग*—किसी भी हालतमें जूआ न खेलना।

(१५) *अभक्ष्यभक्षण-पानका त्याग*—(क) मांस-मद्यका सेवन कतई न करना। (ख) लहसुन-प्याजका सेवन न करना। दवाके रूपमें करना पड़े तो बादमें उचित प्रायश्चित्त करना।

(१६) *हिंसायुक्त जूतोंका त्याग*—मारे हुए पशुके चमड़ेके जूतोंको व्यवहारमें न लाना।

ग्रहण करनेके नियम

(१) *सबमें भगवद्बुद्धि*—जहाँतक बने, जिस किसीसे व्यवहार करना पड़े, उसमें भगवद्बुद्धि करना।

(२) *भगवत्स्मरण*—प्रत्येक पंद्रह मिनटपर भगवान्‌का (नाम, रूप, लीला, गुण आदिका) स्मरण करना और स्मरण आनेपर न भूलनेका प्रयत्न करना।

(३) *सूर्योदयसे पूर्व जागरण*—सूर्य उदय होनेसे पहले ही उठ जाना।

(४) *प्रातःस्मरण और प्रणाम*—प्रातःकाल उठते ही भगवान्‌का स्मरण करना और पृथ्वीमाताको प्रणाम करना।

(५) *गुरुजन-अभिवादन*—घरमें माता, पिता, गुरु, दादा, दादी, ताऊ, ताई, पति, सास, ससुर, जेठ, जेठानी आदि गुरुजनों, वृद्धोंको प्रतिदिन प्रणाम करना। पदमें बड़ी हों परंतु कम उम्रकी हों, उन स्त्रियोंके चरणोंको पुरुष स्पर्श न करे और स्त्री अपने पतिको तथा पिता आदिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे।

(६) *संध्या-गायत्री-सेवन*—यज्ञोपवीतधारी द्विज प्रातः-सायं दोनों समय संध्या करे और दोनों समय गायत्रीकी कम-से-कम एक-एक माला (१०८ मन्त्रों) का जाप करे। अथवा अपने-अपने धर्मके अनुसार दोनों समय उपासना करे।

(७) *गीताध्ययन*—प्रतिदिन श्रीमद्भगवद्गीताके एक अध्यायका पाठ करना (हो सके तो अर्थसहित)।

(८) *सत्सङ्ग-स्वाध्याय*—प्रतिदिन कम-से-कम आधा घंटा सत्सङ्ग करना। सत्सङ्गके अभावमें (गीता, रामायण, भागवत, भक्तचरित, संत-वाणी अथवा अपने-अपने धर्मग्रन्थ आदि सद्ग्रन्थोंका) स्वाध्याय करना।

(९) *भगवन्नाम-जप*—प्रतिदिन भगवान्‌के जिस नाममें अपनी रुचि हो, उसी नामका कम-से-कम एक हजार जप करना।

(१०) *कर्तव्यपालन*—घरमें-बाहरमें अपने जिम्मे जो काम

हो, स्वस्थ शरीर होनेपर उससे जरा भी जी न चुराना। सदा उत्साह और प्रेमसे कार्य करना।

(११) *पवित्र वस्त्र-धारण*—यथासाध्य देशी हाथके बुने कपड़े पहनना।

(१२) *नियमपालन-निरीक्षण*—प्रतिदिन कम-से-कम पंद्रह मिनट इस बातकी जाँच करनेमें लगाना कि लिये हुए नियमोंमें आज किन-किनका पूरा पालन हुआ, किनका नहीं हुआ या अधूरा हुआ। कितनी भूलें हुईं और क्यों हुईं तथा भूलोंके लिये प्रायश्चित्तरूप दण्ड-विधान करना एवं कल भूल न हो—इस बातका दृढ़ निश्चय करना।

[प्रत्येक भूलके लिये एक समयका उपवास अथवा भगवान्‌के किसी भी नामका एक हजार जप—अथवा 'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रकी एक मालाका जप—प्रायश्चित्त-स्वरूप करना चाहिये।]

निवेदन

नियम सभी उपयोगी हैं—इनका यदि अच्छी तरह पालन किया जाय तो उपर्युक्त सभी दोष मिट सकते हैं और मानव-जीवनकी सफलताका सरल मार्ग प्राप्त हो सकता है। अतएव इन नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। नियमावली तथा सदस्य बननेपर नियम भरनेकी डायरी व्यवस्थापक—'साधक-संघ' गीताप्रेस, गोरखपुरको पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

——::×::——

सत्य, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपर विचार

कल्याणकामी पुरुषोंके लिये कुछ सार विषयोंपर निवेदन किया जाता है।

सत्य

इनमें पहला विषय है—सत्य। सत्य साक्षात् परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा हैं—इस बातका निश्चय हो जानेपर परमात्माकी प्राप्ति सहज है; क्योंकि परमात्मा हैं, वास्तवमें हैं। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। भगवान् सत् तथा असत्का निर्णय करते हुए गीतामें कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

भाव यह कि जो सत् वस्तु होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता है और जो असत् (मिथ्या) होती है, उसका कभी भाव नहीं होता है। ऐसी जो सत् वस्तु है, वह परमात्मा है। परमात्माकी सत्तासे ही सबकी सत्ता है। इसलिये हमको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये। सत्यके सेवनमें सत्यभाषण भी है। उस सत्यभाषणसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप सत् है, किंतु सत्य बोलनेवालेको इन बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रथम तो यह समझना चाहिये कि सत्यभाषण किसे कहते हैं। जो

बात जैसी सुनी गयी, देखी गयी तथा समझी गयी हो, उससे न अधिक बताना, न कम कहना—जैसी सुनी-समझी हो, वैसे ही समझानेकी नीयतसे कहना— 'सत्य' है। दूसरी बात यह है कि सत्यमें चतुरता नहीं होनी चाहिये, कपट नहीं होना चाहिये। सरलताके साथ समझा हुआ भाव ज्यों-का-त्यों समझा देना चाहिये। सत्य होकर जो प्रिय हो, वही वास्तवमें सत्य है।* जिस सत्यके उच्चारणसे किसीकी हिंसा होती हो, वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। सत्य बोलनेवाले पुरुषको थोड़ा बोलना चाहिये। सत्य बोलनेवाले पुरुषको कभी भी भविष्यकी वाणी नहीं बोलनी चाहिये। असलमें तो भविष्यका ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिये कि 'मुझे यह करना है, वह करना है।' वाणी भी सत्य होनी चाहिये, संकल्प भी सत्य होना चाहिये, क्रिया भी सत्य होनी चाहिये और भाव भी सच्चा होना चाहिये। तभी सत्यकी वास्तविक प्रतिष्ठा होती है।

जो मनुष्य केवल यह समझता है कि 'भगवान् सत्य हैं और वे सब जगह हैं' उसे भगवान् कैसे हैं, यह ज्ञान नहीं है, वह केवल इतना ही जानता है कि भगवान् हैं। परंतु इतना निश्चय होनेपर उसके द्वारा कोई भी पाप-क्रिया नहीं हो सकती; क्योंकि वह समझता है कि 'भगवान् हैं और वे सत् हैं तथा सब जगह हैं, मैं जो कुछ भी बोलता हूँ, भगवान् सब सुनते हैं; जो कुछ मैं चेष्टा करता हूँ, भगवान् सब देखते हैं।' ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌के विरुद्ध कैसे

---

* सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मो विधीयते॥

(स्कन्द० ब्रा० ध० म० ६। ८८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले; किंतु जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो, ऐसा न बोले; और जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, ऐसा भी न बोले—धर्मका यही विधान किया गया है।'

****

बोलेगा, कैसे कोई काम करेगा। जो भगवान्‌के विरुद्ध चलता है या बोलता है, वह तो वास्तवमें भगवान्‌को मानता ही नहीं। वह झूठ ही कहता है कि मैं भगवान्‌को मानता हूँ। वास्तवमें वह नास्तिक है। जिसको यह विश्वास हो जाता है कि भगवान् नित्य सत्य सर्वव्यापी हैं, उसमें निर्भयता आ जाती है। जब भगवान् सब जगह हैं, तब भय किस बातका? इस निश्चयसे ही उसमें धीरता, वीरता और गम्भीरता स्वतः ही आ जाती है। इसी निश्चयके कारण आगे चलकर उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। 'भगवान् हैं'—यह निश्चय होनेके बाद 'भगवान् कैसे हैं' इस बातको स्वयं भगवान् उसे बता देते हैं। इस प्रकार सत्यकी उपासनासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; किंतु सत्यस्वरूप परमात्माकी उपासना करनेवालेको कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। उसका व्यवहार भी सत्य होना चाहिये तथा उसके हृदयका भाव भी सत्य होना चाहिये। व्यवहार और भावकी सत्यता उसे कहते हैं, जिसकी क्रियामें तथा जिसके बर्तावमें छल, कपट, दगा, बेईमानी, ठगी आदि कोई भी दुर्भाव न हो, बर्तावमें और आचरणमें शुद्ध नीयत हो और दूसरेकी स्त्रीको, दूसरेके धनको जो धूलके समान त्याज्य समझता हो। जो ऐसा है, उसीका व्यवहार और भाव शुद्ध है। हृदयके ऐसे शुद्ध भावको ही सद्भाव कहते हैं। इसीको सद्गुण भी कहते हैं—मानसिक तपका यह प्रधान अङ्ग है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलाया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(१७।१६)

'मनःप्रसादः' यानी मनकी प्रसन्नता, **'सौम्यत्वम्'** यानी मनका सौम्यभाव (शान्त भाव)—जैसे चन्द्रमाका स्वरूप सौम्य है, ऐसे ही हृदयका

****

सौम्य स्वरूप हो, उसे सौम्यभाव कहते हैं। **'मौनम्'**—मनके द्वारा नित्य भगवान्‌के स्वरूपका मनन, **'आत्म—विनिग्रहः'**—यानी मनका निग्रह, मनको अपने नियन्त्रणमें रखना और **'भावसंशुद्धिः'** —यानी भावोंकी शुद्धता, अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इसे 'मानसिक तप' कहते हैं। इस प्रकार मनका भाव भी सत् ही होना चाहिये और क्रिया भी सत् ही होनी चाहिये। उत्तम आचरणोंको सदाचार कहते हैं अथवा सत् पुरुषोंके आचरणोंको सदाचार कहते हैं। अतएव मनुष्यके आचरणोंमें, हृदयके भावोंमें और वाणीमें भी सत्यता होनी चाहिये। इस तरह मन-वचन-कर्मके पवित्र होनेपर उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह सत्‌का संक्षेपमें वर्णन हुआ।

श्रद्धा

अब श्रद्धाके विषयमें विचार करें। ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमें जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जो कुछ हमारी जानकारीमें आता है, उसे तो हम मानते ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमें नहीं है, उसके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको 'परम श्रद्धा' कहते हैं। जैसे भगवान् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर और महात्माओंपर विश्वास करके ऐसा दृढ़रूपसे समझ लेना कि 'निश्चय ही परमात्मा है'—यह परम श्रद्धाका एक स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी एक मकानको सोनेका कह दें और श्रद्धालु पुरुषको उसी क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह परम श्रद्धा है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमें चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोंसे बना हुआ है; पर जब

संतके मुखसे निकल गया कि 'यह सोनेका है', तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया। यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामें मकान तो चूनेका ही दीखता है; किंतु उसके विश्वासमें वह सोनेका हो गया है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका दीखता है; परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे वह सोनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धामें वह कहता है कि 'यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन चुका होता, किंतु इनके मुखसे जिस वक्त यह बात निकली उस वक्त यह मकान चूनेका ही था। अतः अब भी चूनेका ही है। हाँ ! यह विश्वास अवश्य है कि यदि महात्मा कह दें कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है।' यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची चौथे दर्जेकी श्रद्धा वह है, जिसमें वह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे अवश्य हो सकती है, पर यदि वे असम्भव बात कह दें तो वह नहीं हो सकती; जैसे महात्मा कहें कि सूर्य ठंडा हो जायगा तो उनके कहनेसे वह ठंडा नहीं हो सकता; किंतु जो बात होनेवाली है, वह हो सकती है। जैसे किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है, महात्मा कह दें कि यह होगा—तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह दें कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असम्भव है। ऐसा नहीं हो सकता।

परंतु श्रद्धालु पुरुषके लिये सब सम्भव है। जैसे यादव बालकोंने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा ?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकला। मुनियोंने यादव बालकोंका कपट जान लिया। जानकर उन्होंने 'असम्भव'-सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ

ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असम्भव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असम्भव हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। उच्चकोटिके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते हैं और न निश्चितरूपसे भविष्यका संकल्प ही करते हैं। जो कुछ हो रहा है, वे उसीमें मस्त हैं। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा, इसकी वे न तो जाननेकी इच्छा ही करते हैं, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते हैं और न इस बातके जाननेको अच्छा ही समझते हैं। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि मैं कल कलकत्ते जाऊँगा और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा ? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार

****

क्रिया होगी।' यह कहना ठीक है। पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये। विकल्पसहितका अभिप्राय यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। एक लक्ष्यको रखकर चल रहा है, साथमें उस संकल्पके साथ यह विकल्प है—'हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो अच्छी बात है। अमुक काम करनेका विचार है कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है ?' तो भीतरसे यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधक पुरुषको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया ही हो रही है। भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें उसकी यही समझ है कि ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष नहीं है। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा-अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं। मनमें ऐसा निश्चय रखे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है। परमात्मा

****

करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकारसे निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार है और ट्रेनकी बाट देख रहा है, इसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्मसमर्पण करके यह निश्चय रखे कि परमात्मा मेरे द्वारा जो करवा रहे हैं सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रखे कि भगवान्‌का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान करे। निन्दा करे या स्तुति करे—दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा वैसी ही स्तुति। जैसा मान वैसा ही अपमान। जैसा मित्र वैसा ही शत्रु और जैसा सुख वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है। साधकके लिये आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी

आदमीने गाली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीका विषय हैं—आकाशका गुण है, शब्दमात्र है। इसमें भला और बुरा क्या है ? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है, न मेरा अपमान है; न मेरी निन्दा, न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

प्रेम और निष्कामभाव

अब प्रेमके सम्बन्धमें विचार करें। प्रेम—किसीके भी साथ क्यों न हो, उस प्रेमका वास्तवमें उद्देश्य होना चाहिये—'भगवान्की प्रसन्नता।' प्रेम विशुद्ध होना चाहिये। उसमें कोई कामना नहीं होनी चाहिये। निष्काम प्रेम आत्माका उद्धार करनेवाला है। निष्काम प्रेम किसीके भी प्रति हो और सकाम प्रेम भगवान्के प्रति हो तो इनमें निष्काम प्रेमकी महत्ता अधिक है। यह निष्काम प्रेम भगवान्के साथ हो, तब तो कहना ही क्या है ? भाव यही रखना चाहिये कि मैं भगवान्की प्राप्तिके लिये—भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही सबसे प्रेम करता हूँ। यह भाव भी निष्कामके ही समान है। कोई यदि भगवान्की प्राप्तिके लिये या भगवान्में प्रेम होनेके लिये प्रेम नहीं करता, केवल अपना कर्तव्य समझकर ही सबसे निष्काम-भावसे प्रेम करता है, तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है। अतः हमें निष्काम-भावसे प्रेम करना चाहिये। यह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। किसीसे भी परस्परमें जहाँ उच्चकोटिका प्रेम होता है, वहाँ लज्जा, मान, भय, आदर आदि नहीं रहते। यदि प्रेमीके साथ व्यवहारमें लज्जा, मान, भय या आदर है तो समझना चाहिये कि वह

प्रेम उच्चकोटिका नहीं है। वैसा उच्चकोटिका प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो फिर बात ही क्या है ? भगवान्‌की प्राप्ति केवल प्रेमसे हो सकती है, केवल श्रद्धासे हो सकती है, केवल विशुद्ध भावसे हो सकती है, केवल सत्यके आचरणसे हो सकती है और केवल परोपकारसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु वह परोपकार होना चाहिये निष्कामभावसे। एक पुरुष रुपयोंकी परवा न करके या उन रुपयोंसे सिद्ध होनेवाले स्वार्थका त्याग करके दूसरोंका उपकार करता है, दूसरोंकी सेवा करता है। उसमें रुपयोंका त्याग है, शरीरके आरामका भी त्याग है; किंतु उसमें सकाम-भावका त्याग नहीं है। इसलिये केवल आराम तथा रुपयोंका त्याग ही उच्चकोटिका त्याग नहीं है।

शरीरका आराम नहीं चाहा, पर मनमें यह उद्देश्य रहा कि इससे मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो, बड़ाई हो, सत्कार हो तो उसका भी वह परोपकार सकाम ही है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं है; परंतु स्वर्गकी कामना है तो वह कर्म भी सकाम ही है। हाँ ! यदि मुक्तिकी इच्छा है तो इतनी आपत्ति नहीं। यह कामना निष्कामके तुल्य ही है, पर यह भी पूर्ण निष्काम नहीं है; क्योंकि मुक्तिकी जो कामना रहती है, वह भी कभी-कभी बाधा पहुँचा देती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि कोई भाई मुझसे मुक्तिके लिये प्रेम करते हैं, आगे चलकर उन्हें यदि मालूम हो जाय कि मेरी सेवासे उनकी मुक्ति नहीं हो सकती तो वे मेरी सेवा करना छोड़ देंगे। इससे सिद्ध है, मुक्तिकी इच्छा बाधक हुई। मुक्तिकी भी इच्छा न होती तो मेरा-उनका परस्परका प्रेम कभी कम न होता। इसीसे महात्मालोग किसी भाईसे प्रेम करते हैं तो निष्कामभावसे करते हैं। इसीलिये उनकी ओरसे प्रेम कभी कम नहीं होता। वह भाई ही जब उनमें प्रेम कम कर देता है, तब उसका प्रेम कम हो जाता है। महात्मालोग निष्कामभावसे लोगोंका उपकार करते

हैं। इसी प्रकारसे हमें भी निष्कामभावसे ही दूसरोंका उपकार करना चाहिये, लोगोंकी निष्कामभावसे सेवा करनी चाहिये। भगवान् निष्कामभावसे ही सेवा करते हैं, उनके मनमें कोई कामना थोड़े ही है? संसारका उद्धार करना उनका स्वभाव ही है। इसी प्रकार महात्मालोगोंका स्वभाव ही है कि वे लोगोंका अहैतुक हित करते रहते हैं। उनमें अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

न तो ऐसे पुरुषोंको कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे। समस्त भूत-प्राणियोंमें उनका अपना किसीमें किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ नही है। उनके द्वारा समस्त कर्म सहज लोकहितार्थ ही होते हैं। यह बात भगवान्ने गीता अध्याय ३ श्लोक १८ में* बतलायी है। ये महात्माओंके लक्षण हैं। इन्हींको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण करना चाहिये। इस प्रकार जानकर जो साधक साधन करता है, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है।

जो निष्काम-भावसे सेवा करता है और यह समझता है कि मैं अपने कर्तव्यका पालन करता हूँ, भगवान् तो सब जानते ही हैं, इसका परिणाम हमारे लिये शुभ ही होगा। इसमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कामना ही सिद्ध होती है। अतः ऐसी कामना भी नहीं रखनी चाहिये। फलकी ओर कभी ध्यान ही नहीं देना चाहिये। यह समझना चाहिये कि **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** मुझे केवल कर्म करनेका ही अधिकार है, फलका कभी नहीं, फिर जो अनधिकार चेष्टा करना है, वह भी भूल ही है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार साधन करनेसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

——::×::——

---

* नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

सत्यनिष्ठासे भगवत्प्राप्ति

भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक २३ में कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ।'

ॐ, तत्, सत्—ये तीन परमात्माके नाम हैं। इनका किन-किन स्थानोंपर प्रयोग करना चाहिये, यह बात गीतामें बतलायी गयी है। यहाँ इनमेंसे सत्‌के विषयपर कुछ विचार किया जाता है। 'सत्' साक्षात् परमात्माका नाम है और परमात्माका स्वरूप भी 'सत्' ही है। सत्‌का प्रयोग करते हुए भगवान् गीतामें कहते हैं—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

(१७ । २६)

'सत्—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्य-भावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।'

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥

(१७ । २७)

'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार

कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

'सद्भावे साधुभावे च'—'सत्' शब्दका भावमें यानी अस्तित्वमें और साधु भावमें यानी श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है। 'सत्' शब्दका प्रयोग परमात्माके स्वरूपके विषयमें किया गया है, क्योंकि परमात्माका स्वरूप सत् है—भावरूप है। गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा सत्स्वरूप हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता; इसीलिये 'सत्' शब्द परमात्माके स्वरूपका वाचक है। हृदयके उत्तम भाव—श्रेष्ठ भावको 'सद्भाव' कहते हैं तथा कल्याण करनेवाली जितनी उत्तम क्रियाएँ (साधन) हैं, उनको भी 'सत्' कहा गया है; **'प्रशस्ते कर्मणि'** से यह बात बतलायी गयी। अर्थात् 'सत्' शब्द सद्भावमें (अस्तित्वमें), परमात्माके स्वरूप-विषयमें और श्रेष्ठ भावमें तथा उत्तम कर्मोंमें प्रयुक्त किया जाता है।

हमलोगोंको अपने हृदयमें यह समझ लेना चाहिये कि जिस वस्तुका विनाश हो जाता है, वह असत् है और जिस वस्तुका कभी विनाश नहीं होता, वह सत् है। सत् परमात्माका नाम और स्वरूप है, अतः परमात्मा नित्य सत् है। हमें विश्वास करना चाहिये कि परमात्मा है। फिर परमात्माका कैसा स्वरूप है, यह तो स्वयं परमात्मा बतलायेंगे। जब परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी, तब हमें इसका यथार्थ ज्ञान हो जायगा कि परमात्माका स्वरूप कैसा है। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक हम जो परमात्माके साकार या

निराकार अथवा सगुण या निर्गुण स्वरूपका ध्यान करते हैं, वह शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंके आधारपर ही करते हैं; किंतु वास्तवमें परमात्माका जो स्वरूप है, वह तो हमलोग जो ध्यान करते हैं या समझते हैं, उससे बहुत ही विलक्षण है। इसलिये जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव हम नहीं कर सकते। अतः इतना ही हमारे लिये पर्याप्त है कि हम यह विश्वास करें कि 'भगवान् हैं।' यह विश्वास होनेपर हमको भगवान्‌की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। जब हमारा भगवान्‌पर विश्वास हो जायगा और हमारे हृदयमें यह निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं, तब हमारी सारी क्रियाएँ सत् और सात्त्विक होने लगेंगी। इसकी यह कसौटी है; क्योंकि जब हमें यह विश्वास है कि भगवान् हैं, तब भगवान्‌को देखते हुए हम असत् कर्म कैसे कर सकते हैं। यदि करते हैं तो भगवान्‌में हमारा विश्वास कहाँ? जिनका भगवान्‌में विश्वास हो जाता है, उनके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। उनकी सारी क्रियाएँ भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही हुआ करती हैं। जब हमें यह ज्ञान है कि भगवान् सब जगह हैं, हम जो कुछ करते हैं, भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोलते हैं, भगवान् सब सुन रहे हैं, तब भला बतलाइये, हम भगवान्‌के विरुद्ध कैसे बोलेंगे और कैसे कोई क्रिया करेंगे? अतः इसके लिये हमें भगवान्‌के नाम और रूपकी शरण लेनी चाहिये।

'सत्' जो भगवान्‌का नाम है, उस भगवान्‌के नामको हर समय याद रखना भगवान्‌के नामकी शरण लेना है तथा 'सत्' जो भगवान्‌का स्वरूप है, उसको हर समय याद रखना—यह भगवान्‌के सत्स्वरूपकी शरण है। जो इस प्रकारसे भगवान्‌के नाम-रूपकी

****

शरण ले लेता है, उसे हर समय यह ज्ञान रहता है कि भगवान् सब जगह हैं। भगवान्‌का कैसा स्वरूप है, यह ज्ञान न होते हुए भी उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि उसके हृदयमें यह निश्चय है कि भगवान् हैं। उनकी सत्ता सर्वत्र और सर्वकाल है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ भगवान् न हों। ऐसा कोई काल नहीं, जिस कालमें भगवान् न हों। भगवान् सर्वत्र हैं, नित्य हैं। भगवान् किस प्रकारसे सब जगह हैं, इसके लिये गीताके तेरहवें अध्यायके १३ वें श्लोकका अर्थ समझना चाहिये।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

'परमात्मा संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं'—ऐसा ज्ञान रहनेसे उसे बहुत शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। सब जगह उनके हाथ हैं—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी भगवान्‌को समर्पण करते हैं, उसको भगवान् सब जगह ग्रहण कर लेते हैं; क्योंकि उनके हाथ व्यापक हैं, एकदेशीय नहीं। सब जगह उनके चरण हैं—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जब जहाँ भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करते हैं, उसे भगवान् वहीं स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि उनके चरण सब जगह हैं, एकदेशीय नहीं। जैसे हाथ व्यापक हैं, वैसे ही चरण भी व्यापक हैं। सभी जगह भगवान्‌के नेत्र हैं—यह कहनेका यह अभिप्राय है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् सब देख रहे हैं; क्योंकि भगवान्‌के नेत्र सब जगह व्यापक हैं। जब हमारा ऐसा भाव होगा, तब हमसे कोई भी

बुरा काम नहीं होगा अर्थात् भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई भी क्रिया नहीं होगी। सब जगह भगवान्‌का सिर है—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ भी पत्र-पुष्पादि भगवान्‌का भाव करके जहाँ-कहीं भी चढ़ाते हैं, वे भगवान्‌के मस्तकपर ही चढ़ जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌का मस्तक सब जगह व्यापक है। सब जगह भगवान्‌का मुख है, इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का मुख सब जगह व्यापक है। अतः भगवान्‌को जो कुछ हम प्रेमसे भोग लगाते हैं, उसको भगवान् स्वयं खा लेते हैं। गीतामें कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९।२६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसे खाता हूँ।'

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् सब जगह हैं और उनका मुख भी सब जगह है। सब जगह उनके कान हैं—इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के कान व्यापक हैं, एकदेशीय नहीं। हम जहाँ-कहीं भी जो कुछ बोलते हैं, भगवान् वहीं सुन लेते हैं। भगवान् सबको घेरकर सब जगह स्थित हैं—इससे भगवान्‌का अभिप्राय यह है कि कोई अणुमात्र भी ऐसी जगह नहीं, जहाँ भगवान् न हों। इस बातको समझकर हमें सदा ही निर्भय रहना चाहिये। जब हमारे प्रभु सब जगह मौजूद हैं, तब हमें किस बातका भय है? ऐसा समझनेवालेके हृदयमें निर्भयता और धीरता आ

जाती है। फिर वह भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी घबराता नहीं, क्योंकि भगवान् सदा सर्वत्र उसके पास हैं। छोटा-सा साल-दो-सालका बच्चा माँकी गोदमें बैठकर डरता नहीं, वह समझता है कि मैं माँकी गोदमें बैठा हूँ। जब माँकी गोदमें बैठनेवाला छोटा बच्चा भी भय नहीं करता, तब हम बच्चेसे तो अपनेको कुछ अधिक ही समझदार मानते हैं; तब फिर हमको क्यों भय करना चाहिये ? माँकी गोदकी अपेक्षा भगवान्‌की गोद तो और भी बहुत ही उत्तम और निर्भयताको देनेवाली है। ऐसी परिस्थितिमें हमें भय ही क्या है ? जिस प्रकार भगवान्‌के सब अङ्ग सब जगह हैं, वैसे ही भगवान्‌की गोद भी सब जगह है। अतएव अपनेको भगवान्‌की गोदमें समझनेवाले भक्तके हृदयमें निर्भयता, गम्भीरता, वीरता, धीरता आदि अनेक गुण आ जाते हैं। इससे उसके हृदयमें आत्मबल आ जाता है। वह कभी किसी कामके लिये यह नहीं समझता कि मैं इसे नहीं कर सकता। वह कभी भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता। जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करता है, इसलिये उसे यमराजका भी भय नहीं रहता; क्योंकि यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसे दण्ड दे सकें। अपराध होनेपर ही यमराज दण्ड दे सकते हैं। पूर्वमें किये हुए अपराधके फलस्वरूप उसे जो कुछ दुःख आदि प्राप्त होते हैं, उनको भगवान्‌का मङ्गलविधान एवं प्रसाद समझकर वह हँसता हुआ प्रसन्नताके साथ स्वीकार करता है।

भगवान्‌के सभी जगह हाथ, पैर और कान आदि हैं, यह बात ऊपर कही गयी है। तो क्या सब प्राणियोंकी इन्द्रियाँ ही भगवान्‌की इन्द्रियाँ हैं अर्थात् क्या सबकी आँखें ही भगवान्‌की आँखें हैं और सबके कान ही भगवान्‌के कान हैं ? आदि-आदि, यह समझना भी

****

ठीक है, किंतु इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात है। वह यह कि भगवान्‌की इन्द्रियाँ सर्वत्र व्यापक हैं, प्राणियोंकी भाँति एकदेशीय नहीं। गीतामें बतलाया है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

(१३।१४)

'वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है।'

अतएव आँख, हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियोंका जो वर्णन किया गया है, इस प्रकार प्राणियोंकी इन्द्रियोंके समान उनकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। उनकी इन्द्रियाँ सब जगह व्यापक हैं, निराकार हैं। वे इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव सब जगह स्थित हुए करते हैं। यदि कहें कि एक इन्द्रिय सब जगह कैसे हो सकती है, जहाँ हाथ है; वहाँ पैर नहीं, जहाँ पैर है, वहाँ हाथ नहीं, यह ठीक है; किंतु उनकी विलक्षणता अलौकिक है। निराकाररूपसे उनके सभी जगह हाथ, सभी जगह पैर, सभी जगह आँखें आदि इन्द्रियाँ हैं और वे स्वयं भी सब जगह व्यापक हैं। कैसे ? जैसे तारके भीतर बिजली है। उस बिजलीमें सभी शक्तियाँ सब जगह हैं। जैसे तारके भीतर शक्ति उस बिजलीमें सब जगह है, जैसे पंखेके द्वारा हवाकी शक्ति उसमें सब जगह है, जैसे शब्दकी (रेडियो आदिके द्वारा) शक्ति सब जगह है और जैसे बलकी (मशीन और रेल आदि चलानेकी) शक्ति सब जगह है, यह नहीं कि अमुक जगह ही अमुक शक्ति है, उसकी शक्ति सर्वत्र व्यापक है, किंतु आँखोंसे दीखती नहीं; इसी प्रकार इससे भी बढ़कर परमात्माकी शक्ति सब जगह व्यापक है, क्योंकि परमात्मा तो बिजली और अग्निकी भी अपेक्षा सर्वथा विलक्षण भावसे विशेषरूपसे व्यापक हैं। एवं जिस प्रकार सब जगह समान

भावसे होते हुए भी बिजलीकी शक्ति तारमें विशेषरूपसे है, उसी प्रकार परमात्मा सब जगह समान भावसे होते हुए भी भक्तके हृदयमें विशेषरूपसे हैं। भगवान् सब जगह हैं। सब जगह होनेसे उनके हाथ, पैर आदि भी निराकाररूपसे सब जगह व्यापक हैं। सब जगह हाथ, पैर होनेका मतलब यह है कि हाथ-पैरकी जो शक्ति है, वह सब जगह है। हमारी जो आँखें हैं, यह तो नेत्रेन्द्रियका स्थान (गोलक) है। वास्तवमें देखनेकी ज़ो शक्ति है, वही असलमें नेत्रेन्द्रिय है, वह निराकार है। यह जो आपको आँखें दीखती हैं, देखनेकी इन्द्रियका स्थान होनेसे इनको 'नेत्र' कहते हैं। हम जिसे कान कहते हैं, वास्तवमें वह इन्द्रिय नहीं है। वह तो सुननेकी इन्द्रियका स्थान (गोलक) है। इन्द्रिय तो उसमें जो सुननेकी शक्ति है, वह है; क्योंकि जब इन्द्रिय नष्ट हो जाती है, तब कानका गोलक कायम रहते हुए भी सुनता नहीं। इसलिये समझना चाहिये कि वास्तवमें इन्द्रियाँ निराकार हैं, इन्द्रियोंके गोलक इन्द्रियाँ नहीं हैं और भगवान्की इन्द्रियाँ तो विशेषतया निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि 'परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह हैं'—हमारे हृदयमें जो यह भाव है तथा हम जो भगवान्के नाम-रूपको हर समय याद रखते हैं—यही भगवान्की वास्तविक शरण है; क्योंकि भगवान्का नाम भी सत् है और भगवान्का स्वरूप भी सत् है—इस प्रकारकी स्मृति रखनेसे हमारे हृदयके भाव भी सत् होंगे और हमारी बाहरकी क्रियाएँ भी सत् होंगी। बाहरकी क्रिया भीतरके भावके अनुसार ही होती है और भीतरका भाव बुद्धिके निश्चयके अनुसार होता है। जब हमारी बुद्धिमें यह दृढ़ निश्चय हो जायगा कि भगवान् हैं, तब हमारे हृदयमें जितने भाव हैं, वे सब पवित्र, अलौकिक और उत्तम हो जायँगे। जितने उत्तम भाव हैं, उनका नाम

'सद्भाव' है और जितने उत्तम कर्म हैं, उनका नाम 'सत्कर्म' है। जो इससे विपरीत है, उसे असत् कहते हैं। सत्स्वरूप भगवान्की शरण होनेपर हमारी बाहरकी सारी क्रियाएँ पवित्र और सत्य होने लगेंगी अर्थात् हम वचन भी सत्य बोलेंगे, हमारे आचरण भी सत्य होंगे और हमारा भोजन भी सत्य होगा। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

लेना-देना सब झूठा, व्यापार सब झूठा और भोजन भी झूठा। यहाँ यह बात समझमें नहीं आती थी कि भोजन उच्छिष्ट (जूठा) तो होता है पर झूठा क्या? मिथ्या क्या? इसका उत्तर यह है कि जो अन्यायसे द्रव्योपार्जन करके भोजन किया जाता है, वह मिथ्या भोजन है। अर्थात् असत्यकी कमाईका भोजन मिथ्या भोजन है। दूसरी बात यह है कि हम बाजारसे चावल, गेहूँ आदि कोई खानेकी चीज खरीदकर लाते हैं उसे यदि कंट्रोलके कारण पुलिसका कर्मचारी पकड़ लेता है तो कहते हैं कि हमारे पास गेहूँ नहीं जौ है, हमारे पास चावल नहीं चना है। तो यह हमारा झूठा व्यवहार है। इसलिये हमारा वह भोजन भी मिथ्या है। खाते तो हैं चावल-गेहूँ और बताते हैं जौ-चना। इस मिथ्याके कारण हमारा वह भोजन मिथ्या हो जाता है। इसी प्रकार जो सत्यतापूर्वक कमाये हुए द्रव्यका अन्न है, वह सत् है। शास्त्रके अनुकूल जो सात्त्विक भोजन है, वह सत् है और उससे जो विपरीत भोजन है, वह असत् है। इसलिये भोजन भी हमारा सत् ही होना चाहिये।

बाहरकी क्रियाओंमें दो बातें प्रधान हैं—आहार और व्यवहार। व्यवहारमें वाणीका व्यवहार और इन्द्रियोंका व्यवहार। वाणीका व्यवहार सत्य क्या है? यथार्थ, प्रिय और हितके वचन बोलना और इन्द्रियोंका व्यवहार सत्य क्या है? उत्तम आचरण

करना। आहार सत्य क्या है? भोजनकी पवित्रता। भोजनकी पवित्रता भी तीन प्रकारकी होती है—(१) न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खाद्य पदार्थ खरीदकर हम खायें, वह पवित्र भोजन है। (२) जो वस्तु स्वभावसे ही पवित्र है; जो अपवित्र नहीं और शास्त्रके अनुकूल हैं, उन पदार्थोंका भोजन पवित्र है। जैसे दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, तरकारी और फल आदि तथा दूध, दही, घी आदि चीजें तो पवित्र हैं; किन्तु शास्त्रनिषिद्ध लहसुन-प्याज आदि और नशेवाली जो तामसी मादक वस्तुएँ हैं तथा जो उच्छिष्ट हैं एवं जो मांस, अंडा आदि हैं, यह सब तो महान् अपवित्र और निषिद्ध हैं। इसी प्रकार जो राजसी वस्तुएँ हैं, वह भी असत् ही हैं। जो नाना प्रकारके मसाले हैं—जैसे नमक, मिर्च, खटाई, राई आदि तथा जो तीक्ष्ण, रूक्ष, अति गरम और दाहकारक पदार्थ हैं, वे सभी राजसी हैं। राजसी-तामसी—ये दोनों ही भोजन असत् हैं। सात्त्विक ही सत् है। अतः भोजन भी हमारा सात्त्विक होना चाहिये। इस प्रकार एक तो न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे खरीदकर खाद्य पदार्थ खाते हैं, वह सत् है। दूसरे जो भोजन पदार्थरूपमें पवित्र यानी सात्त्विक है, वह सत् है। (३) तीसरे, जो भोजन शौचाचार और शुद्धतापूर्वक बनाया गया है, जिसमें शुद्ध घी, चीनी, आटा आदि हो, शुद्ध जल हो और वह शुद्धतासे बनाया जाय अर्थात् जगह शुद्धतापूर्वक साफ-सुथरी की जाय, संस्कारसे शुद्ध की जाय और शुद्धभावसे भोजन बनाया जाय तो वह इस प्रकार बनाया हुआ भोजन पवित्र है।

बाहरकी पवित्रता क्या है? हमारे जो सात्त्विक कर्म हैं, वे सत् हैं, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदि शास्त्रविहित क्रियाएँ सत्कर्म हैं। इसी प्रकार भगवान्के भक्तिविषयक जितने कर्म हैं, जैसे भगवान्का भजन करना, ध्यान करना, भगवान्की पूजा

****

करना, नमस्कार करना आदि—ये तो सब सत्कर्म हैं ही। जितनी शास्त्रविहित उत्तम क्रियाएँ हैं, वे भी सब सत् हैं। अतः बाहरकी हमारी सब क्रियाएँ सत् ही होनी चाहिये अर्थात् हमारा व्यवहार भी सबके साथ सत् ही होना चाहिये। उत्तम, पवित्र और सात्त्विक व्यवहारको 'सत्य व्यवहार' कहते हैं। 'इसका व्यवहार सत्य है, इसका व्यवहार श्रेष्ठ है'—इस प्रकार श्रेष्ठ कहना या सत् कहना एक ही बात है। इसीको 'साधु व्यवहार' कहते हैं। इसीको 'सत् व्यवहार' कहते हैं। इसीको 'सदाचार' कहते हैं। सदाचारसे सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारतमें बतलाया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी अच्युत भगवान् हैं।'

धर्मके पालनसे भगवान्की प्राप्ति होती है, इसीलिये कहा गया है कि धर्मके प्रभु भगवान् हैं और सारे धर्मोंकी उत्पत्ति आचारसे होती है। आचारके दो भेद हैं—शौचाचार और सदाचार। शौचाचारका अभिप्राय है—जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको शुद्ध बनाना और सदाचारका अभिप्राय है—सबके साथ स्वार्थ, ममता और अभिमानरहित उत्तम व्यवहार करना। उस उत्तम व्यवहारके अन्तर्गत ही बाहरकी समस्त उत्तम क्रियाएँ हैं, जो मैं आपको बतला चुका हूँ। यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, जप—ये सब चीजें उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। हमारे आचरण पवित्र होनेका प्रधान उपाय है—स्वार्थ, ममता और अभिमानसे रहित होकर व्यवहार करना; किंतु हम जो व्यवहार करते हैं, उसमें जब हमारेमें

अभिमान आ जाता है, तब वह हमारा व्यवहार असत् हो जाता है। इसी प्रकार क्रोधसे और लोभसे भी व्यवहार असत् हो जाता है तथा मूर्खतासे भी व्यवहार असत् हो जाता है। इसलिये जिसका व्यवहार सत् होता है, उसके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण भी दूर हो जाते हैं। जिसके हृदयसे दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, उससे तो फिर अपने-आप सत् ही व्यवहार होता है। जब असत्के हेतु उसमें हैं ही नहीं, तब उसका व्यवहार असत् कैसे होगा? उसका व्यवहार तो स्वतः शुद्ध हो जाता है। व्यवहारकी शुद्धिमें मूल कारण निरभिमानता और निष्कामभाव है। हृदयका जो निष्कामभाव है, वही सत्-भाव है। वही उत्तम भाव है, श्रेष्ठ भाव है, साधु भाव है। अतः जब हृदयमें निष्कामभाव आ जाता है, तब हमारी सारी क्रियाओंमें भी निष्कामभावका प्रवेश हो जाता है। फिर हमारी सारी क्रियाएँ स्वतः ही पवित्र हो जाती हैं। किसीके साथ आप व्यवहार करते हैं तो उसमें आप स्वार्थका त्याग कर दीजिये और स्वार्थका त्याग करके आप त्याग करनेका जो अभिमान है, उसका भी त्याग कर दीजिये तो फिर आपका वह व्यवहार अपने-आप ही परम पवित्र उच्चकोटिका हो सकता है। इस प्रकारका जो व्यवहार है, वह सत्-व्यवहार है। इसलिये हमको बोलना भी सत्य ही चाहिये, चाहे भले ही हमारे प्राण ही चले जायँ; कभी असत्य नहीं बोलना चाहिये। भगवान्ने गीतामें १७ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए कहा है—'**सत्यं प्रियहितं च यत्**' वचन कैसा होना चाहिये? सत्य, प्रिय और हितकर। गीताके इस एक श्लोकके एक चरणमें तीन बातें बतला दीं। श्रीमनुजीने एक श्लोकमें दो बातें बतलायी हैं, उन्हींका विस्तार करके यहाँ भगवान्ने तीन बातें बतलायीं। मनुजीने कहा है—

****

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(४। १३८)

'सत्य बोले; और प्रिय बोले किंतु ऐसा सत्य न बोले, जो अप्रिय हो तथा ऐसा प्रिय भी न बोले, जो असत्य हो—यह सनातन धर्म है।'

यदि यह कहा जाय कि मनु महाराजने 'सत्य' और 'प्रिय' बोलनेके लिये ही आज्ञा दी है, इसमें 'हित' शब्द क्यों नहीं आया सो ठीक है, किंतु 'हित' शब्द सत्य और प्रिय इन दोनोंके अन्तर्गत ही है। वास्तवमें प्रिय वही है, जिसमें हित है। यदि मैं आपको प्यारी-प्यारी मनसुहाती बात कहूँ, किंतु वह बात यदि आपके लिये भविष्यमें अहित करनेवाली हो तो जब कभी आपको यथार्थ पता लगेगा, तब आप कहेंगे कि 'वह बात तो प्यारी-प्यारी कहता था, किंतु उसमें हमारा अहित भरा था।' तो वह बात वास्तवमें आगे जाकर प्रियकारक नहीं रहेगी। इसलिये यथार्थ प्रिय वही है, जिसमें वास्तवमें हमारा हित है। अहितकी बात जो हमको प्रिय लगती है, वह हमारे अज्ञानसे लगती है। असलमें वह आत्माके विरुद्ध एवं आत्माका पतन करनेवाली होनेसे हमारे लिये अप्रिय ही है, प्रिय नहीं। इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि उस प्रियके अंदर ही हित भरा हुआ है। इसी प्रकार सत्यके अंदर भी हित भरा हुआ है; क्योंकि जो बात सत्य होती है, वही हितकर होती है। सत्यसे कभी अहित होता ही नहीं और जिससे अहित होता है, वह सत्य ही नहीं है। सत्य वचन कभी कठोर और अप्रिय तो प्रतीत हो सकते हैं; किंतु सत्य होकर वह वचन हितकर न हो, ऐसी बात नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने 'हित' शब्द अलग न कहकर यही कह दिया कि सत्य

बोलना चाहिये और प्रिय बोलना चाहिये। यदि कहें कि फिर भगवान्‌ने 'हित' शब्दका प्रयोग क्यों किया ? तो इसका उत्तर यह है कि इसी तत्त्वका स्पष्टीकरण करनेके लिये; क्योंकि बहुत-से आदमी इसे ठीक समझते नहीं, वे यह समझते हैं कि कोई वचन प्रिय होकर भी अहितकर हो सकता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा कि सत्य भी बोलना चाहिये, प्रिय भी बोलना चाहिये और हितकर वचन भी बोलना चाहिये।

अब यह समझना है कि किन-किन स्थानोंमें असत्‌की सम्भावना है। इसपर भी कुछ गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। जो आदमी भविष्यकी क्रिया बोलता है, उसमें असत् शब्द होनेकी सम्भावना रहती है, जैसे मैं आपको कहूँ कि 'मैं कल अमुक स्थानमें जाऊँगा' किंतु बीमार पड़ गया तो नहीं जा सका; तो यहाँ असत्यके लिये गुंजाइश है। अतः ऐसी अवस्थामें मुझे विचारकर बोलना चाहिये। ऐसी प्रतिज्ञा क्यों करनी चाहिये कि मैं कल जाऊँगा। 'अच्छा, कलके लिये विचार रखना चाहिये, यदि हो सका तो कल जाना हो सकता है'—ऐसा कहनेमें असत्यको गुंजाइश नहीं है। नहीं भी जाना हो तो उससे हमारे वचन मिथ्या नहीं होंगे।

एक कथा है। इसको हमने महाभारत आदि शास्त्रोंमें तो नहीं देखा, किंतु लोकोक्ति सुनी जाती है। एक समय राजा युधिष्ठिरके पास कोई एक ब्राह्मण दान लेने आया तो उस ब्राह्मण देवतासे महाराज युधिष्ठिरने कह दिया—'हम आपको कल दान देंगे।' यह सुनकर अर्जुन आदि भाइयोंने हर्षपूर्वक बड़ा उत्सव मनाया। तब महाराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे पूछा—'भैया ! आज कौन-सा पर्व है जो तुमलोग उत्सव मना रहे हो ?' अर्जुन बोले—'प्रभो ! आज बड़ा उत्सव है, बहुत ही अच्छा पर्व है।' युधिष्ठिरने पूछा—'क्या ?'

****

अर्जुनने कहा—'आपने उस ब्राह्मणसे जो यह कहा कि हम आपको कल दान देंगे और आप सत्यवादी महात्मा हैं। आपके वचन असत्य तो होंगे नहीं। अतः यह निश्चय हो गया कि कलतक तो आपके दर्शन हमलोगोंको हो सकते हैं।' युधिष्ठिरने कहा—'अहो! मैंने ऐसा कह दिया, बड़ी भूल की।' भाव यह है कि अर्जुन कहना तो यह चाहते थे कि 'प्रभो! आप-जैसे पुरुषोंको इस प्रकार भविष्यकी प्रतिज्ञा करके वचन नहीं कहने चाहिये।' किंतु इन शब्दोंमें कहना तो बड़े भाईको उपदेश देना है। इसलिये यों न कहकर उपर्युक्त सुन्दर शब्दोंमें संकेत किया, जो उनके योग्य थे।

इससे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी ऐसे ही वचन कहें, जिनमें कहीं भविष्यकी क्रिया न आये; तब उनके मिथ्या होनेकी गुंजाइश नहीं रहेगी। इसी प्रकार अपने हृदयमें भविष्यका संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि हम भविष्यके लिये दृढ़ संकल्प कर लेंगे और उसे काममें न ला सकेंगे तो हमारे हृदयका संकल्प असत्य हो जायगा। हृदयका संकल्प असत्य होनेसे एक तो यह हानि होगी कि हमें उसको पूरा करनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ेगा। हमने हृदयमें संकल्प कर लिया कि हम निश्चय ही कलकत्ता जायँगे और किसी कारणसे हम मर गये तो मरनेके बाद हमारा जन्म कभी कलकत्तेमें होगा; क्योंकि मरनेके पहले हमारा जो दृढ़ संकल्प था, उसकी पूर्ति नहीं हुई तो संकल्पकी पूर्ति करनेके लिये हमें फिर कभी कलकत्तेमें जन्म लेना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि यदि हमारा संकल्प बार-बार बदलता रहेगा तो हमारे हृदयमें सत्य-संकल्पकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। जैसे कोई आदमी बार-बार झूठ बोलता है तो उसकी वाणी कभी सत्य-प्रतिष्ठावाली नहीं हो सकती। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

****

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योग० २।३६)

'सत्यकी प्रतिष्ठा हो जानेपर वक्ताकी क्रिया फलवती होती है।'

सत्यवादी पुरुष जो कुछ वाणीसे कह देता है, उसका वचन सत्य हो जाता है। जैसे पूर्वकालमें सत्यवादी तपस्वी पुरुष किसीको शाप दे देते थे, वरदान दे देते थे, आशीर्वाद दे देते थे तो वे सब सत्य हो जाते थे, क्योंकि वे सत्यवादी थे। जो मनुष्य सत्य नहीं बोलता, उसके सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती। इसलिये उसकी वाणी फलवती नहीं होती। इसी प्रकार जो मनुष्य मिथ्या संकल्प-विकल्प करता रहता है, जिसके संकल्पका कोई आदर नहीं है, उसके संकल्प भी सत्य नहीं होते। इसलिये हमको अपना संकल्प सत्य ही करना चाहिये अर्थात् संकल्पमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये।

वाणीकी सत्यतासे हृदयकी (मनके संकल्पकी) सत्यता श्रेष्ठ है। वाणीकी जो सत्यता है, वह बाहरकी सत्यता है और हृदयके भावोंकी जो सत्यता है, वह भीतरकी सत्यता है; वह उससे अधिक मूल्यवान् चीज है। इससे भी मूल्यवान् वस्तु है हमारी बुद्धिका यह निश्चय कि 'परमात्मा है और वह सत्य है, नित्य है।' इस प्रकारका हमारे हृदयका निश्चय जितना ही अधिक और दृढ़ हो जाता है, उतना ही हम भगवान्‌के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। इसलिये हृदयमें विशेष दृढ़ता और विश्वासके साथ यह निश्चय रखना चाहिये कि 'भगवान् हैं, इसमें कोई भी शङ्का नहीं और भगवान् हैं तो हमें किस बातकी चिन्ता और भय है। भगवान् हैं और मिलते हैं, तब हम वञ्चित क्यों रहें। हमको और करना ही क्या है? निश्चय ही हमको यही काम कर लेना उचित है।'

वाणीकी असत्यताकी गुंजाइश और कहाँ है? मनुष्यको जब

****

क्रोध आ जाता है तो वह क्रोधके वशीभूत होकर चाहे सो बक देता है। अतः सत्यका अभ्यास करनेवालेको क्रोध नहीं करना चाहिये। वास्तवमें सत्यवादी पुरुषको तो क्रोध आता ही नहीं; क्योंकि उसके हृदयके भाव सत्य हो जाते हैं। क्रोध तो असत्‌की जड़ है। और भी जितने लोभ, काम आदि दुर्गुण हैं, वे भी सब असत्‌की ही जड़ हैं; क्योंकि लोभी और कामी पुरुष पद-पदपर असत्य बोलता रहता है। किंतु जिनके हृदयमें सत्-भाव है, उनकी क्रियाएँ भी सब सत् होती हैं।

सत्-भाव क्या है? इसका वर्णन गीतामें मानसिक तपके नामसे किया गया है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(१७।१६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

ये सब सद्‌भाव हैं। जब इस प्रकारका सद्भाव हो जाता है, तब हृदय पवित्र हो जाता है। फिर उसके हृदयमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि कोई भी असत् पदार्थ (असद्‌भाव) नहीं रहते। इन असत् पदार्थोंके रहते हुए अन्तःकरणकी पवित्रता नहीं मानी जाती। जब उसके हृदयमें ही दोष नहीं हैं, तब उसकी वाणी आदि क्रियाओंमें दोष आ ही कैसे सकते हैं? क्योंकि जो चीज हृदयमें ही नहीं है, वह बाहरके व्यवहारमें कहाँसे आयेगी?

साधकको पहले बाहरकी शुद्धिकी चेष्टा करनी चाहिये। बाहरकी शुद्धि क्या है? आहारकी शुद्धि, व्यवहारकी शुद्धि और

वाणीकी शुद्धि। सत्य, प्रिय और हितकर वाणी ही शुद्ध वाणी है। सत्य वचन बोलते समय अधिक नहीं बोलना चाहिये, मितभाषी होना चाहिये और किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये; क्योंकि निन्दा-स्तुति करनेमें आवेशमें आकर मनुष्य अधिक बोल जाता है। स्तुति करता है तो स्तुति भी अधिक कर जाता है और निन्दा करता है तो निन्दा भी अधिक कर जाता है; किंतु सत्य वचन तो वह है कि जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी गयी हो, वैसी ही कहना; न अधिक कहना, न कम कहना। अपनी प्रशंसा करता है तो अधिक कह जाता है और अपनी निन्दा करता है, दोष बतलाता है तो कम बतलाता है, तो कम कहना भी असत्य है और अधिक कहना भी असत्य है। सत्य तो वही है—जो बात जैसी सुनी, देखी और समझी हो, वैसी-की-वैसी ही निष्कपटभावसे कही जाय। यदि आप कहें कि कोई आदमी आकर ऐसी बात हमसे पूछे कि जो कहनी उचित नहीं है तो उस समय क्या करें, तो इसका उत्तर यह है कि उस समय आपको यह कह देना चाहिये कि मेरा बतलानेका विचार नहीं है। अथवा मौन हो जाना चाहिये। मौन भी सत्क्रिया ही है। आपको उस समय मौन हो जाना चाहिये, जब कि कोई अन्याययुक्त और अनधिकार प्रश्न करे। यदि चोर पूछे कि आपका धन कहाँ है तो हम उसे थोड़े ही बतला देंगे कि हमारा रुपया-गहना वहाँ पड़ा है। उसे बतलानेके लिये हम बाध्य नहीं हैं। हम व्यापार करते हैं और व्यापारका कोई भेद पूछे कि किस प्रकारसे तुमने रुपया कमाया, तो हम बतला भी सकते हैं और नहीं भी, इसमें हम स्वतन्त्र हैं। बाध्य नहीं हैं। बतलानेकी बात न हो तो यह कह सकते हैं कि इस विषयमें हमारा बतलानेका विचार नहीं है। कोई आपसे पूछे कि आपके साधनकी स्थिति कहाँतक हो गयी, अथवा कोई किसी

महात्मा पुरुषसे पूछे कि आपको परमात्माकी प्राप्ति हुई या नहीं, तो वे इसे बतलानेके लिये बाध्य नहीं हैं। वे कह सकते हैं कि 'यह व्यक्तिगत प्रश्न है, अतः मैं नहीं बतला सकता।' क्योंकि गोपनीय बात अनधिकारीको नहीं कही जा सकती। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं कि 'अर्जुन! मैं तुम्हें परम गोपनीय बात कहता हूँ, यह मेरी बात तुम अपात्रको मत कहना।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(१८।६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।'

यह कहकर फिर आदेश दिया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८।६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें

आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार भगवान्‌ने गुप्त रहस्यकी बात कही; फिर अपात्रको कहनेके लिये मना कर दिया कि—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(१८।६७)

'तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये।'

भगवान् मना करते हैं और यह गोपनीय बात है। इसलिये गोपनीय बात किसीको कहनेके लिये हम बाध्य नहीं। यदि सभी बात सभी कहनेके लिये बाध्य हों तो फिर गोपनीय बात क्या रही? इसलिये जो बात गुप्त है, उसे न कहना दोष नहीं है। किंतु हमारा व्यवहार किसीके साथ भी खराब नहीं होना चाहिये; सबके साथ उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये। सबके साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि दूसरेपर अच्छा प्रभाव पड़े, वह प्रसन्न हो जाय। वह चाहे बदलेमें अच्छा व्यवहार न करे, किंतु हमें तो उसके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये। बाहरका व्यवहार उत्तम होता है स्वार्थ और अभिमानके त्यागसे। स्वार्थका त्याग भी किसी हेतुको लेकर हो तो वह वास्तवमें स्वार्थका त्याग नहीं है। जब मैं मान-बड़ाईके लिये स्त्री, पुत्र, धन आदि स्वार्थका त्याग करता हूँ या स्वर्गादि परलोकके लिये स्वार्थका त्याग करता हूँ तो वह मेरा स्वार्थका त्याग वास्तविक स्वार्थत्याग नहीं है। जो स्वार्थत्याग उपर्युक्तरूपसे कामनारहित है, वही यथार्थ स्वार्थत्याग है और वही

निष्काम कर्म है, किंतु वह निष्कामभाव भी अहङ्काररहित होना चाहिये। निष्काम कर्म करके भी यदि यह अभिमान है कि मैं निष्काम कर्म करता हूँ तो वह निष्काम कर्ममें कलङ्क है। इसलिये ममता, अभिमान, स्वार्थ, कामना और आसक्तिका त्याग करके जो कर्म किया जाता है, वही उच्चकोटिका 'सत्य व्यवहार' है। इस प्रकारके भावसे होनेवाले जितने आचरण हैं, वे सब उत्तम-से-उत्तम कोटिके समझे जाते हैं। इस प्रकार निष्कामभावसे अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर उसमें समता आ जाती है और उस पुरुषको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५।१९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

अतः जिनकी परमात्माके स्वरूपमें स्थिति है, उन्हींका भाव उत्तम, सत्, पवित्र और सम है। इसलिये हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। उन महापुरुषोंके हृदयके समान ही अपने सत्य, सम और पवित्र भाव बनाने चाहिये। जो शुद्ध है, सत् है, सम है, वही साधुभाव है। साधुभाव होनेसे हमारी वाणीकी क्रिया यानी हमारा भाषण सत्य होगा, हमारी इन्द्रियोंकी क्रिया, हमारा बर्ताव सत्य होगा और हमारा आहार भी सत्य होगा। तब यज्ञ, दान, तप तथा और भी जितने शास्त्रविहित कर्म हैं, सब भी हमारेद्वारा सत्य

****

ही होंगे यानी उच्चकोटिके श्रेष्ठ और यथार्थ होंगे; क्योंकि उत्तम कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८। ५-६)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

यज्ञ, दान और तपमें जो स्थिति है, वह भी सत्य है। भगवान् कहते हैं—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

'यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।'

एवं जो भगवदर्थ कर्म है, वह तो परम सत् है। गीतामें कहा है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

(१२। १०)

****

'मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

भगवान् सत् हैं, उनके लिये किया हुआ कर्म भी सत् है। इसलिये हमारे कर्म भगवदर्थ होने चाहिये। यद्यपि यज्ञ, दान, तप—ये स्वरूपसे सात्त्विक हैं; किंतु उनके साथ तामसी भावोंका सम्बन्ध होनेपर वे असत् हो जाते हैं। यदि दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये हम यज्ञ करते हैं, तप करते हैं, दान देते हैं, तो वह यज्ञ, दान, तप असत् है। स्वरूपसे सत् होते हुए भी भावके दूषित होनेसे असत् हो जाता है; क्योंकि क्रियाकी अपेक्षा भाव उत्तम है। यज्ञ, दान, तप—ये सब स्वरूपसे सत् तो हैं ही, भगवदर्थ होनेसे ये भावसे भी सत् हो जाते हैं। अतः हमारे कर्म क्रियासे भी सत् होने चाहिये और भावसे भी सत् होने चाहिये; क्योंकि इस प्रकार केवल सत्यकी शरणसे ही हमारा कल्याण हो सकता है।

बाहरकी क्रियासे हृदयके भाव श्रेष्ठ हैं; क्योंकि हृदयके जो साधुभाव, पवित्रभाव, श्रेष्ठभाव, समभाव, निष्कामभाव हैं—ये उच्च कोटिके भाव हैं। इसलिये ये क्रियाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हैं; क्योंकि हमारे हृदयके उत्तम भावोंसे हमारे बाहरके कर्म स्वाभाविक ही पवित्र और सत्य हो जाते हैं। बाहरकी क्रिया सत् होकर भी भीतरका भाव असत् रह सकता है, किंतु आगे जाकर तो उसके प्रभावसे भीतरके भावोंकी भी शुद्धि हो सकती है; क्योंकि बतलाया गया है कि पवित्र भोजन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः** (छान्दोग्य० ७। २६। २)।' इसलिये आहार-व्यवहार आदि बाहरकी शुद्धिसे भी भीतरकी शुद्धि होती है। अतः सत्कर्मोंसे सद्भाव पैदा होते हैं और जब सद्भाव हो जाता है, तब उससे तो फिर असत्कर्म होते ही नहीं। हृदयके सत् भावोंकी

अपेक्षा भी जो भगवान्‌का स्वरूप है, वह परम सत्य, सबसे श्रेष्ठ और पवित्र है। उसकी तो बात ही क्या है ? जब भगवान्‌के स्वरूपमें हमारी निष्ठा हो जाती है, भगवान्‌के स्वरूपमें जब हमारा निश्चय अटल हो जाता है, हमारी बुद्धिमें जब इत्थम्भूत निश्चय होता है कि 'भगवान् हैं' तब फिर हम भारी संकट पड़नेपर भी विचलित नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान्‌की सत्तामें इतना भारी बल है। इस स्थितिमें हमारे अंदर इतना आत्मबल आ जाता है कि कभी हमसे असद्व्यवहार नहीं हो सकता, हृदयमें असद्भाव नहीं आ सकता। इसलिये भगवान्‌के स्वरूपमें श्रद्धापूर्वक निष्ठा भी दृढ़ करनी चाहिये। निष्ठा होनेपर हमारी सारी क्रिया अपने-आप शुद्ध, श्रेष्ठ और सत् होने लगेगी। भगवान् सदा-सर्वदा सब जगह मौजूद हैं—यही भगवान्‌की उच्चकोटिकी भक्ति है। यही भगवान्‌में निष्ठा है। यह उच्चकोटिकी निष्ठा ही भगवान्‌को प्राप्त करा देती है।

ये सब बातें सत्यके विषयमें कही गयी हैं। पाठकगण उचित समझें तो इन्हें धारण कर सकते हैं। इनको धारण करनेसे निश्चय ही कल्याण हो सकता है। मैं धारण करूँ तो मेरा कल्याण हो सकता है और आप धारण करें तो आपका कल्याण हो सकता है; क्योंकि ये भगवान्‌के वचन हैं, मेरे वचन नहीं। मैं तो केवल अनुवादमात्र कर देता हूँ। इनके पालनके लिये मैं आपसे प्रतिज्ञा नहीं कराता, क्योंकि मेरा प्रतिज्ञा करानेका अधिकार नहीं है। यह दूसरी बात है कि आप इनको अच्छा समझें, ठीक समझें तो धारण कर सकते हैं, काममें ला सकते हैं। यदि आप इनको काममें लावें तो केवल इस उपर्युक्त सत्यको ही धारण करनेसे आपका कल्याण हो सकता है, इसमें कोई शङ्का नहीं है; क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं, शास्त्र कहते हैं और महात्मा कहते हैं।

****

इसलिये सत्यस्वरूप परमात्माको अपने हृदय और बुद्धिमें धारण करें। फिर आपका भाव और क्रियाएँ अपने-आप ही सत्य, श्रेष्ठ और शुद्ध हो जायँगी। यदि आप बाहरकी क्रियाका सुधार नहीं कर सकते तो कोई विशेष हर्जकी बात नहीं। आप भगवान्‌में निष्ठा रखिये, भगवान्‌में विश्वास रखिये, भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जाइये, भगवान्‌की शरण हो जाइये। फिर इसके लिये आपको अलग कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा; सारे-के-सारे कर्म, सारे भाव भगवत्कृपासे अपने-आप ही शुद्ध हो जायँगे। जब आपके हृदयमें भगवान्‌की निष्ठा हो जायगी, आप श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के अनन्य शरण हो जायँगे, तब स्वयं भगवान् अपने-आप ही आपको प्राप्त हो जायँगे।

——::×::——

देशके कल्याणके लिये संस्कृत, आयुर्वेद, हिंदी तथा गीता-रामायणके प्रचारकी आवश्यकता

संस्कृत भाषा

वर्तमान परिस्थितिपर विचार करनेसे पता लगता है कि देशमें संस्कृत भाषाका दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है। इसी क्रमसे ह्रास होता गया तो एक दिन हमारे देशसे संस्कृत भाषाका लुप्तप्राय-सा हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। पाण्डवोंके राज्यशासनके समयतक तो इसका बहुत ही अधिक प्रचार था। नीति, धर्म और अध्यात्म-विषयक सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें ही थे और यही राजभाषा भी थी; क्योंकि राजनीतिक कार्य तथा दण्डविधान आदि सब मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियोंके आधारपर ही किये जाते थे। मिताक्षरा कानूनमें अब भी कुछ रूपमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर दायभाग और दण्डविधान किया जाता है। नीति, धर्म और अध्यात्मविषयक साहित्यको देखनेसे मालूम होता है कि संस्कृत भाषा सारे हिंदुस्थानमें व्यापकरूपसे प्रचलित थी, उसीके प्रतापसे हिंदुस्थानके सभी प्रान्तोंके कोने-कोनेमें अब भी संस्कृत भाषा मिलती है। भारतवर्षमें कोई भी ऐसा प्रान्त और जिला नहीं, जहाँ संस्कृत भाषा न पायी जाती हो। संस्कृतको जाननेवाला कोई भी पण्डित कहीं भी चला जाय, उसे संस्कृतमें बात करनेवाला कोई-न-कोई मिल ही जाता है एवं हिंदुस्थानके किसी भी प्रान्तमें चले जाइये—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण एक ही मिलेंगे, कहीं विशेष भेद नहीं मिलेगा। इससे हमारी संस्कृत भाषा और धार्मिक ग्रन्थोंकी अनादिता, उपादेयता और व्यापकता सिद्ध

होती है। इस संस्कृत भाषाके पूर्वकी कोई अन्य भाषा, श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणके पहलेका कोई भी धार्मिक ग्रन्थ और संस्कृत वर्णमालाके पूर्वकी कोई अन्य वर्णमाला देखने-सुननेमें नहीं आती; इससे भी इनकी अनादिता सिद्ध होती है। बौद्धयुगमें धार्मिक विरोधके नाते संस्कृतपर प्रहार हुए; फिर भी सम्राट् विक्रमादित्य और राजा भोजके समयमें संस्कृतका बड़ा अच्छा प्रचार रहा। उसके बाद भी कुछ संस्कृत-प्रसार रहा, किंतु फिर मुसल्मानी शासनमें संस्कृतके नाशकी काफी चेष्टा हुई।

सुना जाता है कि वेदोंकी कुल ११३१ शाखाएँ थीं, जिनमें अब केवल लगभग १२ मिलती हैं। सामवेदकी १००० शाखाओंमें केवल ३ मिलती हैं। यही दशा वेदके ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्रादिकी तथा वेदाङ्ग एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थोंकी है। इन सब वैदिक शाखाओं तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंका इतना नाश कैसे हुआ ? इसपर निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि वैदिक धर्मके विरोधियों तथा विदेशी अत्याचारियोंके द्वारा ही हमारी यह सारी अमूल्य ग्रन्थसम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। कहा जाता है कि उज्जैनके राजा मतादित्यने हजारों ब्राह्मणोंकी तमाम पुस्तकोंको जलवा दिया था। बौद्धोंके द्वारा 'सह्याद्रिखण्ड' (पुस्तकालय) का नाश किया जाना प्रसिद्ध है। मुसल्मानोंने अलेक्जेंड्रियाके पुस्तकालयको जला दिया था। महमूद और नादिरशाहने भी संस्कृतके अगणित धर्मग्रन्थोंका नाश किया। कुछ मुसल्मान बादशाहोंने तो संस्कृतकी पुस्तकोंको 'हमाम' गरम करनेके लिये जलाया था। इस प्रकार हमारा यह अमूल्य ज्ञानकोष ध्वंस कर दिया गया। यों पहले तो इसका अत्याचारियोंने नाश किया, पर उसमें तो हम निरुपाय थे; किंतु बड़े खेदकी बात है कि अब बचे-खुचेका हम अपनी अवहेलना तथा मूर्खतासे नाश कर रहे हैं!

****

किंतु इसको बचाना हमारा परम कर्तव्य है। संस्कृत भाषाके बचनेसे ही धर्म भी बचेगा; क्योंकि हमारे जितने भी मूल धार्मिक ग्रन्थ हैं, उनका आधार संस्कृत भाषा ही है और यह संस्कृत भाषा कितनी प्राञ्जल और मधुर है, इसका तत्त्व इस अमृतमय भाषाका आस्वादन करनेवाले विद्वान् ही जानते हैं। संस्कृतका व्याकरण भी अलौकिक है। वैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण जगत्की किसी भी भाषाका देखनेमें नहीं आता।

इस प्रकारके संस्कृत भाषारूपी अलौकिक रत्नका यदि हमारे भारतवर्षमें अभाव हो जायगा तो फिर पुनः इसका प्रादुर्भाव होना बहुत कठिन होगा। अतः हम सरकारसे और देशवासियोंसे प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार यह संस्कृत भाषा जीवित रहे, इसका उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो और यह सर्वाङ्गीण समृद्धिको प्राप्त हो, इसके लिये सभीको शक्ति-अनुसार प्रयत्न करना चाहिये।

आयुर्वेद-विज्ञान

इसी प्रकार आयुर्वेद-विज्ञानका भी बड़ी तेजीसे अभाव होता जा रहा है। आयुर्वेदीय चिकित्सा, निदान और ओषधियोंके नाम, रूप, स्वभाव, गुण और उनके निर्माणका जो महान् ज्ञान त्रिकालज्ञ ऋषियोंको था, वह क्रमशः लुप्त होता ही चला गया। इस समय हमारे अनुमानसे वह प्रायः नब्बे प्रतिशत लुप्त हो चुका है और जो बचा-खुचा है, उसका भी दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है। आस्थावान् विद्वान् वैद्य उठते चले जा रहे हैं। जो हैं, उनकी इसके प्रति अनास्था बढ़ रही है। इसीका परिणाम है कि आज देशके बड़े-बड़े वैद्य भी प्रायः अपने बच्चोंको डाक्टरी पढ़ाते हैं और स्वयं भी डाक्टरी दवाओंका व्यवहार करते हैं। यह निश्चित है कि

भारतवासियोंके लिये भारतवर्षकी आयुर्वेदोक्त देशी ओषधियाँ जितनी लाभप्रद हो सकती हैं, उतनी विदेशी ओषधि नहीं। कहा भी है—

'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।'

'जो जिस देशका प्राणी है, उसके लिये उसी देशसे उत्पन्न ओषधि हितकारी है।'

इस देशमें आयुर्वेद-विज्ञान एक दिन कितना उन्नत था, इसका पता महाभारतकी इस कथासे लगता है—महाभारतके आदिपर्वमें कथा आती है कि काश्यप नामके एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। वे मृत व्यक्तिको भी ओषधियोंसे जीवित करनेकी शक्ति रखते थे। उन्हें जब पता लगा कि राजा परीक्षित्को तक्षक नाग डँसनेवाला है, तब वे परीक्षित्के पास जानेके लिये घरसे चले। रास्तेमें उन्हें तक्षकसे भेंट हो गयी। मानवरूपधारी तक्षकके पूछनेपर काश्यपने अपने वहाँ जानेका यह हेतु बतलाया कि 'राजा परीक्षित्को तक्षक काटेगा, तो मैं उन्हें अपनी ओषधिसे जिला दूँगा।' यह सुनकर तक्षकने कहा, 'मैं ही तक्षक हूँ। मेरे काटे हुएकी तुम चिकित्सा नहीं कर सकते।' काश्यपने कहा— 'मैं तुम्हारे डँसे हुएको जिला दूँगा।' इसपर तक्षक बोला—'मैं इस वृक्षको डँसकर भस्म करता हूँ, तुम इसे जिला दो।' तक्षकके काटते ही वृक्ष जलकर भस्म हो गया। तब काश्यपने मन्त्र और ओषधियोंके बलसे पुनः उसे जीवित करके तुरंत हरा-भरा कर दिया। तक्षकने अपने मानकी रक्षाके लिये काश्यप ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर उसे वहींसे लौटा दिया।

इससे हमें यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ आयुर्वेदने कितनी अद्भुत उन्नति की थी कि जिसके द्वारा मृत मनुष्य ही नहीं, समूल जले हुए वृक्षको भी हरा-भरा किया जा सकता था। ऐसी आदरणीय

विद्याका शनैः-शनैः लोप हुआ और होता जा रहा है। यह कितने परितापका विषय है! अब भी यह विज्ञान जिस रूपमें वर्तमान है, यदि सरकार तथा देशवासी और निष्ठावान् सद्वैद्य ध्यान देकर इसके रक्षण, अन्वेषण और संवर्द्धनका प्रयत्न करें, तो इसमें इतने महान् गुण छिपे हैं कि उनके प्रकट होनेपर जगत् चकित हो सकता है; परंतु इसके लिये सबके सम्मिलित प्रयत्नकी आवश्यकता है। हम सरकारसे, देशवासियोंसे और वैद्य महोदयोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि वे इस ओर ध्यान दें और आयुर्वेदकी रक्षा तथा उन्नति करके अपने कर्तव्यका पालन करें।

डाक्टरी दवाओंमें प्रायः मांस, मज्जा, चर्बी, ग्रन्थियाँ, मदिरा आदि अपवित्र घृणित पदार्थोंका भी प्रयोग किया जाता है, जो सब प्रकारसे अपवित्र, हिंसापूर्ण अतएव अवाञ्छनीय हैं। देशवासियोंको चाहिये कि विदेशी डाक्टरी दवाइयोंको कतई काममें न लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदिद्वारा रचित आयुर्वेदीय शास्त्रोंमें बतलायी हुई वनस्पति, धातु और रस आदि पवित्र दवाओंके सेवनका ही दृढ़ नियम ले लें। यदि किसीसे सर्वथा ऐसा न हो सके तो कम-से-कम यह तो निश्चय करें कि जहाँतक हो डाक्टरी दवा काममें न लेकर देशी आयुर्वेदीय दवाके प्रयोगकी ही विशेषरूपसे चेष्टा रखेंगे। इन ग्रन्थों और ओषधियोंके निर्माणकर्ता ऋषि त्रिकालज्ञ और अनुभवी थे, उनका अनुभव और ज्ञान अलौकिक था। ऐसा अनुभव वर्तमान युगके मनुष्योंमें सम्भव नहीं है। हमें उन ऋषियोंके अनुभव और ज्ञानका सम्मान करके उससे लाभ उठाना चाहिये।

हिंदुस्थान और हिंदी भाषा

हमारे इस भारतवर्षका नाम पहले 'आर्यावर्त' था, जिसे

वर्तमानमें हम हिंदुस्थान कहते हैं। मुसल्मान भाई 'हिंदू' शब्दका आक्षेपसे काफिरके अर्थमें प्रयोग करते हैं, किंतु हमारे लिये 'हिंदू' शब्द पवित्र और गौरवकी वस्तु है। हमारे इस देशका नाम हिंदुस्थान क्यों पड़ा ? हिमालयका 'हि' और 'बिंदु' का 'न्दु'—इस प्रकार इन दोनोंके आदि और अन्तके दो शब्दोंको लेकर 'हिंदु' शब्द बना है। हिमालयसे तात्पर्य है—उत्तरमें स्थित सबसे ऊँचा गौरीशङ्कर पहाड़ (हिमगिरि) और बिंदुसे अभिप्राय है—पूर्व और पश्चिमसहित दक्षिण समुद्र। अथवा यों समझें कि हिमालयका 'हि' और सिन्धु (समुद्र) का 'इन्धु' लेकर 'हिन्धु' शब्द बना है; उसीका अपभ्रंश 'हिंदू' शब्द है। हिमालयसे लेकर दक्षिण समुद्रतकके बीचका जो देश है, उसका नाम है—'हिंदुस्थान' और जो उसमें बसते हैं, उनकी जाति है 'हिंदू' तथा उनकी भाषा है 'हिंदी'। उनका जो धर्म है, वही 'हिंदूधर्म' कहलाता है और उनके चाल-चलन, आहार-व्यवहार तथा वेश-भूषाको कहते हैं—'हिंदू-संस्कृति'। इन सबकी रक्षासे ही हिंदू-जाति और हिंदूधर्मकी रक्षा हो सकती है।

अतः हिंदुस्थानमें निवास करनेवाले भाइयोंको अपनी रक्षाके लिये अपने हिंदुस्थानकी भाषा, वेश-भूषा, खान-पान और चाल-चलनको ही अपनाये रहना चाहिये, विदेशी प्रभावमें आकर इन्हें कभी नहीं बदलना चाहिये। जो जाति अपनी संस्कृतिको छोड़कर दूसरी जातिकी संस्कृतिको अपना लेती है, वह नष्ट हो जाती है।

हमारी प्राचीन भाषा है संस्कृत और वर्तमान भाषा है हिंदी तथा हमारी लिपि देवनागरी है। हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत यदि राष्ट्रभाषा न हो सके तो हिंदी भाषा तो राष्ट्रभाषा अवश्य होनी ही चाहिये तथा हर तरह हमें हिंदीकी उन्नति करनी चाहिये। श्रुति-स्मृति-इतिहास-

पुराणोक्त जो अनादिकालसे चला आनेवाला सनातन धर्म है, वही हमारी आर्यजाति हिंदुस्थानियोंका सनातन हिंदूधर्म है। प्रत्येक हिंदुस्थानी भाईको ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे कम-से-कम अपने देश हिंदुस्थानमें तो हमारा हिंदूधर्म, हिंदूजाति, हिंदीभाषा और हिंदू-संस्कृति कायम रहे।

गीता-रामायणका प्रचार

संस्कृतमें श्रीमद्भगवद्गीता और हिंदीमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत रामचरितमानस—ये दोनों उत्तम शिक्षा देनेवाले सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। इनके अनुसार आचरण करनेपर मनुष्यका जीवन उच्चकोटिका हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंकी महात्मा गाँधीजीने भी बहुत प्रशंसा की है। इनको सारे संसारके लिये उपयोगी कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनकी शैली बड़ी ही सुन्दर है। इनमें श्लोक, छन्द, चौपाई, दोहे आदि काव्यकी दृष्टिसे भी अत्यन्त रसयुक्त, मधुर, सुन्दर और विशुद्ध हैं। अतएव इन दोनों ग्रन्थोंका सार्वजनिक प्रचार होना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद मिलते हैं, उतने किसी भी संस्कृत या हिंदीके अन्य ग्रन्थपर नहीं मिलते। इससे सिद्ध होता है कि यह बहुत उच्चकोटिका ग्रन्थ है और सभी सम्प्रदायवालोंने इसको अपनाया है तथा भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें इसका सम्मान है। इसी प्रकार विदेशोंमें भी इसका बड़ा आदर है। रामचरितमानसका हिंदी वाङ्मयमें सबसे बढ़कर स्थान है, भारतके सभी प्रान्तोंमें इसका समादर है। विदेशोंमें भी लोग इसे मानते हैं। अभी रूसी भाषामें इसका अनुवाद हुआ है। गीताप्रेस, गोरखपुरमें भी श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसके प्रकाशनको प्रथम स्थान दिया गया है। दोनों ग्रन्थ प्रचुर संख्यामें और सस्ते मूल्यमें दिये जाते हैं।

गीता-रामायण-परीक्षा-समितिके नामसे एक अलग समिति चल रही है, जिसका उद्देश्य है कि गीता और रामायणका बालकोंको विशेष ज्ञान हो। इसके लिये अलग-अलग परीक्षाएँ रखी गयी हैं। सैकड़ों स्कूल-कालेजों तथा पाठशालाओंमें इनकी परीक्षाएँ होती हैं, जिनमें कई जगह तो इनका अध्ययन करना अनिवार्य है। जो सज्जन इन परीक्षाओंके सम्बन्धमें विशेष जानना चाहें, वे 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति' की नियमावली ऋषिकेशसे मँगाकर जान सकते हैं।

जिन भाइयोंने पाठशालाएँ, हाई-स्कूल और कालेज खोल रखे हैं या जो उनमें सहायता देते हैं, उनसे तथा सरकारसे हमारी यह प्रार्थना है कि वे अपनी संस्थाओंमें गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रचारित गीता-रामायणकी परीक्षाएँ रखें, जिससे बालक इनके लाभसे वञ्चित न रहें।

इसी प्रकार मनुष्यमात्रके लाभके लिये एक विभाग और है, जिसका नाम 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' है। इसमें गीता-विभागमें पाँच प्रकारके और श्रीरामायण-विभागमें तीन प्रकारके सदस्य बनाये जाते हैं। प्रत्येक वर्ण, जाति और आश्रमके नर-नारी, बालक, युवा, वृद्ध—सभी इसके सदस्य बन सकते हैं। सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। प्रेमपूर्वक गीता और रामायणका पारायण और अध्ययन ही इसकी सदस्यताका मूल्य है। अबतक इसके कई हजार सदस्य बन चुके हैं और बन रहे हैं। सदस्योंके प्रकार नीचे दिये जाते हैं, पाठकोंको उन्हें पढ़कर तथा समझकर उनका घर-घर प्रचार करना चाहिये।

श्रीगीता-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न पाँच प्रकार हैं—

(१) जो प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका (१८ अध्यायोंका) अर्थपर

लक्ष्य रखते हुए प्रेमसहित एक पाठ करें।

(२) जो प्रतिदिन गीताके ९ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो प्रतिदिन गीताके ६ अध्यायोंका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(४) जो पंद्रह दिनोंमें सम्पूर्ण गीताका प्रेमपूर्वक अर्थसहित एक पाठ करें। इस प्रकार वर्षभरमें २४ पाठ अर्थसहित करें।

गीताके अनुसार जीवन बनानेके लिये गीता-तत्त्वविवेचनी टीकाका प्रतिदिन कम-से-कम एक घंटा या दो श्लोकोंका गम्भीरतापूर्वक विचार करें। (पाँचवें प्रकारके सदस्य उन्हीं लोगोंको बनना चाहिये जिनका गीतापर अध्ययन हो और जो गम्भीरताके साथ उसके अर्थपर विचार कर सकते हों।)

गीताका पाठ करनेवाले प्रत्येक सज्जनसे यह निवेदन है कि यदि हो सके तो प्रतिदिन 'गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्वविवेचनी' टीकामेंसे गीताके दो श्लोकोंका भावसहित प्रेमपूर्वक पठन और मनन करें।

श्रीरामायण-विभागमें सम्मिलित होनेवाले सदस्योंके निम्न तीन प्रकार हैं—

(१) जो प्रतिदिन नवाह्न-पारायणकी रीतिसे श्रीरामचरितमानसका अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(२) जो प्रतिदिन मासपारायणकी रीतिसे अर्थपर लक्ष्य रखते हुए प्रेमपूर्वक पाठ करें।

(३) जो प्रतिदिन कम-से-कम सात दोहोंका (चौपाई-छन्द आदिसहित) प्रेमपूर्वक अर्थसहित पाठ करें। इस प्रकार सालभरमें सम्पूर्ण रामायणके अर्थसहित कम-से-कम दो पाठ कर लें।

****

जो सज्जन उपर्युक्त दोनों विभागों या किसी एक विभागके अन्तर्गत सदस्य बनना चाहें, वे गोरखपुर 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' पो॰ गीताप्रेसके नामसे पत्र देकर आवेदन-पत्र मँगा लें।

इनमें जो अर्थसहित गीता-रामायणका पाठ है, उससे बहुत अधिक लाभ होता है। एक भाई जो नित्यप्रति गीताके अठारहों अध्यायोंके केवल श्लोकोंका ही पाठ करता है, उससे वह श्रेष्ठ है जो अर्थ और भावसहित केवल एक अध्यायका ही नित्य पाठ करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है, जो कम-से-कम किसी एक श्लोकके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारयुक्त अपना जीवन बनाता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रामायणका मूल पाठ करनेवालेकी अपेक्षा जो अर्थ और भाव समझकर मूल पाठ करता है या भाव समझकर अर्थसहित पाठ करता है, वह बहुत उत्तम दर्जेका है और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो रामायणका अर्थ और भाव समझकर यथाशक्ति उसके अनुसार अपना जीवन बनाता है।

अतः हमारी सभी पाठक-पाठिकाओंसे यह प्रार्थना है कि गीता और रामायणके पाठ करनेका नियम यथाशक्ति लेना चाहिये तथा उसके अर्थ और भावको समझकर उसके अनुसार जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त गीता और रामायण दोनों ही अध्यात्मदृष्टिसे तो बहुत लाभकी वस्तु हैं ही, साथ-ही-साथ संस्कृत और हिंदीके ज्ञानकी दृष्टिसे तथा बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे भी बहुत उपयोगी हैं। अतः सरकारसे तथा भारतवासी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि साम्प्रदायिक दृष्टिको छोड़कर सभीके बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक लाभकी दृष्टिसे इनका प्रचार करें।



सभी वर्णाश्रमोंमें मुक्ति

कई सज्जन कहते हैं कि मुक्ति संन्यास-आश्रममें ही होती है, गृहस्थमें नहीं; किंतु उनका यह कहना कहाँतक उचित है—समझमें नहीं आता; क्योंकि श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंको देखनेसे मालूम होता है कि सभी वर्ण और आश्रमोंमें मुक्ति होती है। मुक्तिमें वर्ण, आश्रम और जातिकी प्रधानता नहीं; सद्गुण, सदाचार, ईश्वरभक्ति और ज्ञानकी ही प्रधानता है; और यह बात शास्त्रसंगत एवं युक्तियुक्त है।

यदि कहें कि मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'—इस सिद्धान्तके अनुसार निष्कामकर्म और ईश्वरभक्ति आदि साधनोंसे मुक्ति नहीं होती तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जिस परमात्माके ज्ञानसे मुक्ति बतलायी गयी है, वह ज्ञान निष्कामकर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने-आप ही हो जाता है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके सिवा, गीतामें जगह-जगह निष्कामकर्मसे मुक्ति बतलायी है (जैसे—२।५१; ३।१९; ५।११-१२ आदि-आदि)।

जब निष्कामकर्मसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर अपने-आप ही

ज्ञान होकर मुक्ति हो जाती है, तब ईश्वरकी भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

तथा श्रीभगवान्‌ने नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

ईश्वरकी भक्तिसे जब स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि आदितककी परम गति बतलायी है, तब फिर यह कहना बन ही कैसे सकता है कि गृहस्थाश्रममें मुक्ति नहीं होती? ईश्वरके भक्तोंकी शरण लेनेसे भी जातिसे नीच मनुष्योंतकके कल्याणकी बात श्रीमद्भागवतमें आती है—

****

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

—फिर भगवान्‌की शरण लेनेसे उद्धार हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है (देखिये गीता १८।६२)।

शास्त्रोंमें सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमें भक्ति, ज्ञान और निष्कामभाव आदि सभी साधनोंसे मुक्ति बतलायी है और इसके अनेकों उदाहरण भी वेद-पुराण और इतिहासमें मिलते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्‌में बतलाया है कि उद्दालक मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति ज्ञानका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया। जाबालाके पुत्र सत्यकामको गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान होकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी एवं सत्यकामके शिष्य उपकोशलने भी ब्रह्मचर्याश्रममें ही गुरुकी सेवासे ब्रह्मको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार राजर्षि अश्वपति और राजा जनक स्वयं तो मुक्त थे ही, उनके पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ज्ञान लेने जाते और मुक्ति प्राप्त किया करते थे। राजा अश्वपतिके पास जाकर प्राचीनशाल आदि ऋषियोंने ज्ञान प्राप्त किया और वे मुक्त हो गये।

याज्ञवल्क्य ऋषिसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने ज्ञान प्राप्त किया।

****

वचक्नुकी पुत्री गार्गी स्वयं ही जीवन्मुक्त थीं, जिन्होंने राजा जनककी सभामें ब्रह्मवेत्ताओंके प्रसंगमें याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किये थे। इनकी कथा बृहदारण्यकोपनिषद्में देखनी चाहिये।

यमराजसे उपदेश प्राप्त करके नचिकेताके जीवन्मुक्त होनेकी बात कठोपनिषद्में आती ही है।

माता-पिताकी सेवासे मूक चाण्डाल, पातिव्रत्यके पालनसे शुभा नामकी स्त्री, न्याययुक्त सत्यतापूर्वक क्रय-विक्रयसे तुलाधार वैश्य, उत्तम गुणोंसे सज्जन अद्रोहक एवं भगवद्भक्तिसे वैष्णव परमात्माको प्राप्त हो गये। इनका आख्यान पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें बड़े ही विस्तारसे आता है, वह देखने योग्य है।

राजा चोल तथा ब्राह्मण विष्णुदास भी ईश्वरकी भक्तिसे परमपदको प्राप्त हो गये, यह कथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें आती है। राजा अम्बरीष और भीष्मपितामहको भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति होनेका उल्लेख श्रीमद्भागवतमें आता है तथा भक्त अर्जुन और द्रौपदीको परमपद-प्राप्तिका वर्णन महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें है। मार्कण्डेयपुराणमें भगवतीकी उपासनासे समाधि वैश्यकी परमपद-प्राप्तिकी कथा है। लोमहर्षण, उग्रश्रवा, संजय और दासीपुत्र विदुर, जिनकी कथा महाभारतमें आती है, भगवान्‌की भक्तिसे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। शबरी भीलनीने भी भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्प्राप्ति कर ली, जिसकी कथा वाल्मीकीय रामायणके अरण्यकाण्डमें मिलती है।

इस प्रकार सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें अनेक स्त्री-पुरुषोंको कर्म, उपासना तथा योग आदि साधनोंसे परमात्माकी प्राप्ति होनेका उल्लेख शास्त्रोंमें जगह-जगह पाया जाता है, कहाँतक दिखलावें।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें अधिकांश गृहस्थाश्रमी हैं। फिर

वानप्रस्थी और संन्यासियोंका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! अन्य सभी आश्रमियोंका भरण-पोषण गृहस्थाश्रमसे ही होता है, इसलिये पुराणोंमें कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रमको अन्य आश्रमोंसे श्रेष्ठ भी बतलाया है। अतः जो नर-नारी गृहस्थाश्रममें रहकर अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे पालन करते हुए ईश्वरकी अनन्यभक्ति करते हैं, उनकी मुक्तिमें कोई संदेह नहीं है। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डमें महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण कथा है, जिनमें अपने वर्णधर्मका निष्कामभावसे आचरण करना, सम्पूर्ण धर्मोंके वास्तविक सारतत्त्वको समझकर सबको आदर देना एवं साथ ही भगवान् सदाशिवकी अनन्य भक्ति करना—ये तीनों विशेषताएँ विद्यमान थीं। उनका विस्तृत आख्यान स्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ४०-४१ वें अध्यायोंमें देखने योग्य है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उसका संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

नन्दभद्र नामक एक वैश्य थे। वे साक्षात् धर्मराजकी भाँति समस्त धर्मोंके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले थे। वे सबके सुहृद् थे और सदा सभीके हितसाधनमें संलग्न रहते थे। उन्होंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा इस परोपकारधर्मका ही आश्रय ले रखा था। नन्दभद्रने इस विशाल धर्मसमुद्रका सब ओरसे मन्थन करके सारतत्त्व ग्रहण किया था।

वे जीविकाके लिये न्याययुक्त वाणिज्यको श्रेष्ठ मानते थे और उसीको अपनाये हुए थे। उन्होंने थोड़ेसे काठ और घास-फूससे अपने रहनेके लिये घर बना रखा था और सब लोगोंकी भलाईके लिये तथा शरीरनिर्वाहके लिये वे कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे। उनके क्रय-विक्रयकी वस्तुओंमें मदिरा सर्वथा वर्जित थी।

उनके यहाँ ग्राहकोंके साथ भेदभाव न करके समताका व्यवहार किया जाता था। झूठ और कपटका तो वहाँ नाम भी न था। वस्तुओंके आदान-प्रदानमें वे सबके साथ समतापूर्ण बर्ताव करते थे। बिना छल-कपटके दूसरोंसे खरीदकी वस्तु लेकर उसे बिना किसी धोखा-धड़ीके वे सब लोगोंको समानभावसे बेचते थे; यही उनका श्रेष्ठ व्रत था।

कुछ लोग यज्ञकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र सर्वथा ऐसा नहीं मानते थे। वे श्रद्धापूर्वक देवपूजन, नमस्कार, स्तुति, नैवेद्य-निवेदन आदि यज्ञकी सारभूत बातोंका सदा ही पालन करते थे। कोई-कोई संन्यासकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्र उनसे भी सर्वथा सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि जो विषयोंका बाहरसे त्याग करके मनसे उनका चिन्तन करता है, वह पुरुष गृहस्थ और संन्याससे अथवा इहलोक और परलोक—दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर फटे हुए बादलकी भाँति नष्ट हो जाता है। संन्यासका जो सारभूत उत्तम तत्त्व है, उसका आदर तो नन्दभद्र भी करते थे।

वे किसीके कर्मोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करते थे। किसीके साथ न उनका द्वेष था, न राग; न अनुरोध था, न विरोध। पत्थर और सुवर्णको वे समान समझते तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाव रखते थे। वे स्वभावसे ही धीर थे। सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय रहते थे। अपनी आकृति ऐसी बनायी रखते थे, मानो अंधे और बहरे हों; अर्थात् वे दूसरोंके दोषोंको न देखते और न सुनते। कर्मोंके फलकी उन्हें कोई आकाङ्क्षा नहीं थी। अतः प्रत्येक कर्म उनके लिये भगवान् सदाशिवकी आराधनाका अङ्ग बन जाता था। इसी कारण वे धर्मका अनुष्ठान तो चाहते और करते थे, परंतु उसमें

कोई स्वार्थ नहीं रखते थे। नन्दभद्रने भलीभाँति विचार करके इस मोक्षप्राप्तिके साररूप धर्मको ग्रहण किया था।

कुछ लोग खेतीकी प्रशंसा करते हैं; परंतु नन्दभद्रने उसके भी सारभागको ही अपनाया था। खेतीकी आयमेंसे तीसवें भागका त्याग करना चाहिये—उसे धर्मके कार्यमें लगा देना चाहिये। बूढ़े पशुओंका भी स्वयं ही पालन-पोषण करना चाहिये। जो ऐसा करे, वही श्रेष्ठ किसान है। नन्दभद्रने इसीको खेतीका सार मानकर इसका आदर किया था।

प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), ब्राह्मणों तथा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि भूतोंके लिये अन्न देना चाहिये। सदा इन सबको देकर ही स्वयं भोजन करना उचित है। यह उनका मत था।*

कुछ लोग ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं, परंतु नन्दभद्र उसे प्रशंसाके योग्य नहीं मानते थे; क्योंकि ऐश्वर्यशाली पुरुष अपनेको चिरस्थायी समझकर दूसरोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। वास्तवमें जो धनके मदसे उन्मत्त होता है, वह पतित होकर विवेक खो बैठता है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी ही आत्मा मानकर उनके प्रति अपने ही-जैसा बर्ताव करना चाहिये।†

---

* गीतामें भी भगवान्‌ने ऐसा ही कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३।१३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

† श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

जिसकी सर्वत्र आत्मदृष्टि है, वह ऐश्वर्यसे मतवाला नहीं होता। इसलिये वे अपनी शक्तिके अनुसार सभी प्राणियोंकी सेवा करते थे, किसीकी भी सेवासे विमुख नहीं होते थे। इस आचरणसे रहनेवाले साधुशिरोमणि नन्दभद्रके सद्व्यवहारकी देवतालोग भी स्पृहा रखते थे।

इसी स्थानमें एक शूद्र भी रहता था, जो नन्दभद्रका पड़ोसी था। उसका नाम तो था सत्यव्रत, किंतु वह बड़ा भारी नास्तिक था। उसकी इच्छा थी, यदि इनका कोई छिद्र देख पाऊँ तो इन्हें धर्मसे

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।'

'अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

'अपनी सादृश्यतासे सम देखने' का तात्पर्य है—जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर, गुदाके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे उनके सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना चाहिये।

गिरा दूँ। नन्दभद्रके वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ, किंतु वह चल बसा। इसे प्रारब्धका फल मानकर उन महामति वैश्यने शोक नहीं किया। तदनन्तर, नन्दभद्रकी प्यारी पत्नी कनका, जो पतिव्रता अरुन्धतीकी भाँति साध्वी स्त्रियोंके समस्त सद्गुणोंसे विभूषित थी, सहसा मृत्युको प्राप्त हो गयी। सत्यव्रतको बहुत दिनोंके बाद बड़ी प्रसन्नता हुई। 'बड़े कष्टकी बात हुई,' ऐसा कहता हुआ वह शीघ्र ही नन्दभद्रके पास आया और मित्रकी भाँति मिलकर उनसे बोला—'नन्दभद्र! यदि तुम-जैसे धर्मात्माको भी ऐसा फल मिला तो इससे मेरे मनमें यही आता है कि यह धर्म-कर्म व्यर्थ ही है। मैं वाणीके अठारह और बुद्धिके नौ दोषोंसे रहित सर्वथा निर्दोष वाक्य बोलूँगा।* शास्त्रोंके जालसे पृथक् हो मिथ्यावादोंको छोड़कर केवल सत्य कहना ही मेरा व्रत है। इसलिये मैं 'सत्यव्रत' कहलाता हूँ। मैं तुमसे सच्ची बात कहूँगा।'

---

* सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं, उसे वाक्य कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ कहा जाता है, वह 'प्रयोजन' नामक वाक्य कहा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें प्रतिज्ञा करके वाक्यके उपसंहारमें 'यही वह है' ऐसा कहकर जो विशेषरूपसे सिद्धान्त बताया जाता है, वह 'निर्णय' नामक वाक्य है। 'यह पहले और यह पीछे कहना चाहिये'—इस प्रकार क्रमविभागपूर्वक जो प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन किया जाता है, उसे वाक्यतत्त्वके ज्ञाता विद्वान् 'क्रम' कहते हैं। जहाँ दोषों और गुणोंका यथावत् विभाग करके दोनोंके लिये प्रमाण उपस्थित किया जाय, उसे 'संख्या' वाक्य समझना चाहिये और जहाँ वाक्यके विभिन्न अर्थोंमें अभेद देखा जाता है, उस अतिशय अभेदकी प्रतीतिमें जो हेतु है, उसे ही 'सूक्ष्मता' कहते हैं। यह वाक्यके गुणोंकी गणना हुई।

वाणीके अठारह दोष इस प्रकार समझने चाहिये—अपेतार्थ, अभिन्नार्थ, अप्रवृत्त, अधिक, अश्लक्ष्ण, संदिग्ध, पदान्त अक्षरका गुरु होना, पराङ्मुख-मुख, अनृत, असंस्कृत, त्रिवर्ग-विरुद्ध, न्यून, कष्टशब्द, अतिशब्द, व्युत्क्रमाभिहृत, सशेष, अहेतुक तथा

'जबसे तुम पत्थर (शिवलिङ्ग) पूजनेमें लग गये, तबसे तुम्हें कोई अच्छा फल मिला हो, ऐसा मैं नहीं देखता। तुम्हारे एक ही तो पुत्र था, वह भी नष्ट हो गया। पतिव्रता पत्नी थी, सो भी संसारसे चल बसी। भैया! देवता कहाँ हैं? सब मिथ्या है। यदि होते तो दिखायी न देते? यह सब कुछ कपटी ब्राह्मणोंकी झूठी कल्पना है।

निष्कारण। जिस वाणीके उच्चारण करनेपर भी अर्थका भान न हो, वह 'अपेतार्थ' है। जिससे अर्थभेदकी स्पष्ट प्रतीति न हो, वह 'अभिन्नार्थ' है। जो सदा व्यवहारमें न आता हो, ऐसा शब्द 'अप्रवृत्त' कहा गया है। जिसके न रहनेपर भी वाक्यार्थ-बोध हो जाता है, वह वाक् या शब्द 'अधिक' है। अस्पष्ट अथवा अपरिमार्जित वाणीको 'अश्लक्ष्ण' कहते हैं। जिससे अर्थमें संदेह हो, वह 'संदिग्ध' है। 'पदान्त अक्षरका गुरु उच्चारण' भी एक दोष ही है। वक्ता जिस अर्थको व्यक्त करना चाहता है, उसके विपरीत अर्थकी ओर जानेवाली वाणीको 'पराङ्मुख-मुख' कहा गया है। 'अनृत' का अर्थ है असत्य। व्याकरणसे सिद्ध न होनेवाली वाणीको 'असंस्कृत' कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामके विपरीत विचार प्रकट करनेवाली वाणी 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' कही गयी है। अर्थबोधके लिये पर्याप्त शब्दका न होना 'न्यून' दोष है। जिसके उच्चारणमें क्लेश हो, वह 'कष्टशब्द' है। अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दको यहाँ 'अतिशब्द' कहा है। जहाँ क्रमका उल्लङ्घन करके शब्दप्रयोग हुआ हो, वह 'व्युत्क्रमाभिहत' कहलाता है। वाक्य पूरा होनेपर भी यदि बात पूरी नहीं हुई तो वहाँ 'सशेष' नामक दोष है। कथित अर्थकी सिद्धिके लिये जहाँ उचित तर्क या युक्तिका अभाव हो, वहाँ 'अहेतुक' दोष है। जब किसी बातके कहे जानेका कोई कारण नहीं बताया गया हो, अथवा किसी शब्दके प्रयोगका उचित कारण न हो, तब वहाँ 'निष्कारण' दोष है।

काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, कुटिलता, दयाहीनता, सम्मानहीनता, धर्महीनता— ये नौ बुद्धिके दोष हैं। जब वक्ता, श्रोता और वाक्य तीनों अविकल रहकर बोलनेकी इच्छामें समान अवस्थाको प्राप्त हों, तभी वक्ताका अभिप्राय यथावत्-रूप प्रकट होता है। बातचीत करते समय जब वक्ता श्रोताकी अवहेलना करता है अथवा श्रोता ही वक्ताकी उपेक्षा करने लगता है, तब बोला हुआ वाक्य बुद्धिपथपर नहीं चढ़ता। इसके सिवा, जो सत्यका परित्याग करके अपनेको अथवा श्रोताको प्रिय लगनेवाला वचन बोलता है, उसके उस वाक्यमें संदेह उत्पन्न होने लगता है, अतः वह वाक्य भी सदोष ही है। इसलिये जो अपनेको या श्रोताको प्रिय लगनेवाली बात छोड़कर केवल सत्य ही बोलता है, वही इस पृथ्वीपर यथार्थवक्ता है, दूसरा नहीं।

संसारकी सृष्टि और संहार—ये दोनों बातें झूठी हैं। यह विश्व स्वभावसे ही सदा वर्तमान रहता है, ये सूर्य आदि ग्रह स्वभावसे ही आकाशमें विचरण करते हैं, स्वभावसे ही पृथ्वी स्थिर है, स्वभावसे ही समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित है, स्वभावसे ही ये बहुतेरे जीव उत्पन्न होते हैं, स्वभावसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। इसका कोई प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला कर्ता (ईश्वर) नहीं है।

'धूर्तलोग इस मनुष्ययोनिको भी सबसे श्रेष्ठ बतलाते हैं, किंतु मनुष्ययोनिसे बढ़कर दूसरी किसी योनिमें कष्ट नहीं है। ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े बिना किसी बन्धनके सुखपूर्वक विहार करते हैं, इनकी योनि अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्योंकी अपेक्षा अन्य योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी जीव धन्य हैं। इसलिये नन्दभद्र! तुम मिथ्याधर्मका परित्याग करके मौजसे खाओ, पीओ, खेलो और भोग भोगो। पृथ्वीपर बस यही सत्य है।'

सत्यव्रतके इन वाक्योंसे, जो अशुभकर, अयुक्तिसंगत तथा असमञ्जस (दोषपूर्ण) थे, महाबुद्धिमान् नन्दभद्र तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे क्षोभरहित समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'सत्यव्रतजी! आपने जो यह कहा कि धर्मात्मा मनुष्य सदा दुःखके भागी होते हैं, वह झूठ है। हम तो पापियोंपर भी बहुतेरे दुःख आते देखते हैं। संसारबन्धनजनित क्लेश तथा पुत्र और स्त्री आदिकी मृत्युके दुःख पापी मनुष्योंके यहाँ भी देखे जाते हैं। इसलिये मेरे मतमें धर्म ही श्रेष्ठ है।'

'दूसरी बात जो आप यह कहते हैं कि इस संसारका कारण कोई महान् ईश्वर नहीं है, यह भी बच्चोंकी-सी बात है। क्या प्रजा बिना राजाके रह सकती है? इसके सिवा आप जो यह कहते हैं कि तुम झूठे ही पत्थरके लिङ्गकी पूजा करते हो, इसके उत्तरमें मुझे

***

इतना ही निवेदन करना है कि आप शिवलिङ्गकी महिमाको नहीं जानते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे अंधा सूर्यके स्वरूपको नहीं जानता। भगवान् श्रीरामने समुद्रके किनारे श्रीरामेश्वर-लिङ्गकी स्थापना की है, क्या वह झूठा ही है?'

'आप जो यह कहते हैं कि देवता नहीं हैं और यदि हैं तो कहीं भी दिखायी क्यों नहीं देते? आपके इस प्रश्नसे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जैसे दरिद्रलोग द्वार-द्वार जाकर भीख माँगते हैं, उसी प्रकार क्या देवता भी आपके पास आकर याचना करें? यदि आपके मतमें सब पदार्थ स्वभावसे ही सिद्ध होते हैं तो बताइये, कर्ताके बिना भोजन क्यों नहीं तैयार हो जाता? इसलिये जो भी निर्माणकार्य है, वह अवश्य किसी-न-किसी कर्ताका ही है। और आपने जो यह कहा है कि ये पशु आदि प्राणी ही सुखी तथा धन्य हैं, यह बात आपके सिवा और किसीने न तो कही है और न सुनी ही है। तमोगुणी और अनेक इन्द्रियोंसे रहित जो पशु-पक्षी आदि प्राणी हैं तथा उनके जो कष्ट हैं, वे भी यदि स्पृहणीय और धन्य हैं तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे युक्त मनुष्य श्रेष्ठ और धन्य क्यों नहीं है? मैं तो समझता हूँ कि आपका जो यह अद्भुत सत्यव्रत है, इसे आपने नरक जानेके लिये ही संग्रह किया है। आपने पहले ही जो आडम्बरपूर्ण भूमिका बाँधकर अपने ज्ञानका परिचय देना आरम्भ किया है, उसीमें आपके इन वचनोंकी सारहीनता व्यक्त हो गयी है। आपने प्रतिज्ञा तो की थी कुछ और कहनेके लिये, परंतु कह डाला कुछ और ही। इसमें आपका कोई दोष नहीं है, सब दोष मेरा ही है, जो मैं आपकी बात सुनता हूँ। नास्तिक, सर्प और विष—इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये दूसरेको मोहित करते हैं। प्रतिदिन साधुपुरुषोंका संग करना धर्मका कारण है। इसलिये विद्वान्, वृद्ध, शुद्ध भाववाले तपस्वी तथा

शान्तिपरायण संत-महात्माओंके साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। दुष्ट पुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, एक आसनपर बैठने तथा एक साथ भोजन करनेसे धार्मिक आचार नष्ट होते हैं। नीचोंके संगसे पुरुषोंकी बुद्धि नष्ट होती है, मध्यम श्रेणीके लोगोंके साथ उठने-बैठनेसे बुद्धि मध्यम स्थितिको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ समागम होनेसे बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। इस धर्मका स्मरण करके मैं पुनः आपसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, क्योंकि आप सदा ब्राह्मण आदिकोंकी ही निन्दा करते हैं। वेद प्रमाण हैं, स्मृतियाँ प्रमाण हैं तथा धर्म और अर्थसे युक्त वचन प्रमाण हैं; परंतु जिसकी दृष्टिमें ये तीनों ही प्रमाण नहीं हैं, उसकी बातको कौन प्रमाण मानेगा ?'

इस प्रकार कह महात्मा नन्दभद्र वहाँसे उठकर चले गये। वे सदा भगवान् शिवकी उपासनामें लगे रहते और इस प्रकार भगवान् शिवकी भक्ति करते हुए वे परम पदको प्राप्त हो गये।

भक्तिसहित निष्काम कर्मके विषयमें तो शास्त्रका विधिवाक्य भी है। श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

> **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**
> **स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥**
> **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
> **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**
>
> (१८।४५-४६)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

****

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सभी मनुष्योंको परमात्माकी शरण होकर अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार जगज्जनार्दनकी सेवा करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

——::×::——

प्रकृति-पुरुष-विचार

किसी भाईका प्रश्न है कि 'सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुणमय पदार्थ प्रकृतिसे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और प्रकृतिको कर्ता तथा पुरुषको भोक्ता किस कारणसे बताया गया है?' इसके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३।१९)

'प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान।' इसमें विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है। अतः पहले यह जानना चाहिये कि 'विकार' कितने हैं। विकारोंके सम्बन्धमें इसी तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया।' इसके पूर्वके श्लोक (१३।५) में शरीरके कितने तत्त्व हैं, वे बतलाये गये हैं। यहाँ 'क्षेत्र' शरीरका नाम है। अतः ये सब शरीरके विकार हैं। इनमें इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, धृति और चेतना—ये हृदयके विकार हैं। संघात स्थूलदेहका विकार है। धृति और चेतना

****

सात्त्विक होनेसे अच्छे विकार हैं। 'इच्छा' रागका कार्य होनेसे एक प्रकारसे राग ही है। ये राग-द्वेष ही सब विकारोंकी जड़ हैं। अनुकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'राग' है तथा प्रतिकूलतामें होनेवाली वृत्तिका नाम 'द्वेष' है। जो कुछ प्रतिकूल होता है, उसमें द्वेष तथा दुःख होता है, भय तथा ईर्ष्या होती है, प्रतिद्वन्द्विता तथा चिन्ता होती है; इसके अतिरिक्त भी द्वेषके कारण अन्य अनेकों विकार होते हैं। इसी प्रकार रागके कारण भी हर्ष, काम आदि अनेकों विकार पैदा हो जाते हैं। इच्छासे भी अनेकों विकार पैदा होते हैं।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २ । ६२-६३)

'आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

ये सब राग और इच्छाके ही विकार हैं। आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें आघात पड़नेपर क्रोध होता है, फिर स्मृतिविभ्रम, उससे बुद्धिका नाश एवं बुद्धिके नाशसे सर्वथा पतन हो जाता है। ये सारे विकार इन्हींसे हुए। इसीलिये भगवान्‌ने कहा कि मैंने तुम्हें संक्षेपसे ही 'विकार' बतलाये हैं। अब दूसरे विषयपर विचार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

****

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(१३।१९)

'विकारोंको और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान।' सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। प्रकृतिसे ही कार्य-करणरूप तीनों गुणोंका विस्तार होता है। महासर्गके आदिमें केवल प्रकृति और पुरुष दो ही रहते हैं। पुरुष यानी परमात्मा और प्रकृति यानी परमात्माकी शक्ति; अर्थात् शक्ति और शक्तिमान्। इन्हींसे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ। गीताके १४ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें यह बात बतलायी है कि महद्ब्रह्म प्रकृति है और मैं बीजको देनेवाला पिता हूँ। अतः प्रकृति सबकी माँ है और मैं उसमें बीजको छोड़नेवाला पिता हूँ, जिससे कि समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार त्रिगुणमय सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं।

महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति होती है और महाप्रलयके समय सारे प्राणी प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं। उन सब प्राणियोंके स्थूल शरीर प्रलयके समय विनष्ट हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीरके अभिमानी जीव रहते हैं, पर उनके सूक्ष्म शरीर भी अपने 'कारण' में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें सबका विलय हो जाता है। फिर महासर्गके समय इसी प्रकारसे सबकी उत्पत्ति होती है। संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके वर्णनमें शास्त्रोंमें कुछ-कुछ भिन्नता दिखायी देती है। महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्र एवं भगवान् कपिलदेवद्वारा रचित सांख्यशास्त्रमें जितने पदार्थ बतलाये गये हैं, उतने ही गीतामें भी बताये गये हैं। वहाँ सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई, महत्तत्त्वसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मन और पञ्च-तन्मात्राओंकी एवं

****

पञ्च-तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा—इन दस इन्द्रियोंकी और आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पञ्च स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई। इसी विषयको गीताके १३ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें इस प्रकार बतलाया है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अर्थात् पाँच महाभूत, छठा अहङ्कार, सातवीं बुद्धि, आठवीं मूल प्रकृति (अव्याकृत माया), दस इन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार आठ और ग्यारह कुल उन्नीस तथा उन इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यों २४ पदार्थ होते हैं। ये ही चौबीस पदार्थ 'सांख्य' में और 'योग' में बताये गये हैं। इनकी उत्पत्तिके क्रममें थोड़ा अन्तर है। इसका कारण यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति सदा एक ही क्रमसे नहीं हुआ करती। उसमें थोड़ी-बहुत विभिन्नता रहती है। इसीलिये वेदोंमें, श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें, मनुस्मृतिके प्रथमाध्यायमें एवं उपनिषदादिमें जो सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बतलाया है, उसमें सर्वत्र ही कुछ-न-कुछ विभिन्नता है। पर मूल सिद्धान्त यही है कि प्रकृतिसे ही सब जड पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। अब यह जानना है कि गीताके सिद्धान्तके अनुसार पदार्थोंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है। इसके लिये, यहाँ 'अव्यक्त' से उलटा चक्र चलता है, ऐसा समझना चाहिये—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अव्यक्त सबसे परे है। इस अव्यक्तसे ही सबकी उत्पत्ति होती है। अव्यक्तका अर्थ है 'अव्याकृत माया,'—प्रकृति या ईश्वरकी

****

शक्ति। इस ईश्वरकी शक्तिरूप 'अव्यक्त' को यहाँसे उलटा चलाइये तो इस प्रकृतिसे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई। इस बुद्धिको ही 'समष्टि बुद्धि' या 'महत्तत्त्व' कहते हैं। 'वेदान्त' 'समष्टि बुद्धि' कहता है तथा 'सांख्य' एवं 'योग' इसे 'महत्तत्त्व' कहते हैं। इस बुद्धिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति हुई और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूतादिकी। ये पञ्चमहाभूत पञ्चसूक्ष्ममहाभूत हैं। ये इन्द्रियों और उनके विषयोंके कारण होनेसे उनकी प्रकृति भी हैं; सांख्यमें भी यही बतलाया गया है कि एक मूल प्रकृति, सात प्रकृति-विकृति और षोडश विकार,— यों सब मिलकर चौबीस होते हैं। गीतामें प्रकृतिका वर्णन इस तरह आया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

(७।४)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच सूक्ष्म महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है।'

यहाँ मूलप्रकृतिका उल्लेख न करके मनका उल्लेख किया है; किंतु मन किसीकी प्रकृति नहीं है, इसीलिये स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने यहाँ इस गीताके प्रसङ्गपर मनका अर्थ मन न कर 'अहङ्कार' किया है और बुद्धिका अर्थ 'महत्तत्त्व' तथा अहङ्कारका अर्थ 'अव्याकृत माया' किया है। हमें यहाँ आठोंको प्रकृति समझ लेना चाहिये, क्योंकि भगवान्ने इनको 'प्रकृति' कहा है। अतः हमें इस प्रकारसे चलना चाहिये। उलटे चक्रके हिसाबसे अव्याकृत मायासे बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, बुद्धिसे अहङ्कारकी, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रारूप सूक्ष्मभूतोंकी और एक मनकी। इन पञ्च-सूक्ष्मभूतोंसे दस इन्द्रियोंकी

और उसके बाद पाँच विषयोंकी उत्पत्ति हुई। पाँच विषय और दस इन्द्रियोंकी पञ्चसूक्ष्मभूतोंसे उत्पत्ति हुई, इसमें तो मतभेद नहीं है, किंतु मनको कोई पाँच भूतोंसे उत्पन्न मानता है, कोई अहङ्कारसे उत्पन्न मानता है। वेदोंमें, भागवतमें इन पाँच भूतोंकी उत्पत्तिमें अलग-अलग क्रम बतलाया है—आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल, जलसे पृथ्वी—इस प्रकार भी क्रम है। इस समस्त क्रमको मानकर विचार करनेपर यही बात सिद्ध होती है कि जब प्रलय होता है, तब पृथ्वी जलमें डूब जाती है, जलको अग्नि सुखा देती है, अग्निको वायु शान्त कर देता है और वायु आकाशमें स्वतः शान्त हो जाता है; रह जाता है आकाश। जब महाप्रलय होता है, तब आकाश तथा पञ्चभूतोंके और भी जितने विकार हैं, वे सब अहङ्कारमें विलीन हो जाते हैं और मन भी अहङ्कारमें, अहङ्कार बुद्धि (महत्तत्त्व) में, बुद्धि अव्यक्त मायामें लीन हो जाती है। अव्यक्त माया 'ईश्वरकी शक्ति' है। वह महाप्रलयमें भी विद्यमान रहती है। इसी क्रमसे जब सृष्टि उत्पन्न होती है, तब प्रकृतिसे प्रथम महत्तत्त्वकी यानी समष्टि बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। बुद्धिसे समष्टि अहङ्कारकी, अहङ्कारसे मनकी तथा अहङ्कारसे ही पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चतन्मात्राको ही 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं। जब 'सूक्ष्मभूत' कहते हैं, तब फिर उनसे विषयोंकी उत्पत्ति मान लेनी उचित है। यदि उन पाँच सूक्ष्म विषयोंको पञ्चतन्मात्रा मानें तो पञ्चभूतोंकी इन तन्मात्रारूप सूक्ष्म विषयोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। 'योगशास्त्र' और 'सांख्यशास्त्र' ऐसा मानते हैं। इस प्रकारसे इन सबकी उत्पत्ति मानी गयी है। महासृष्टिके आदिमें केवल प्रकृति ही थी। प्रलयके समय समस्त जीवोंके स्थूल शरीर 'समष्टि सूक्ष्मप्रकृति' में विलीन हो जाते हैं। 'सूक्ष्मप्रकृति' मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाती है। यह मूलप्रकृति

****

सबका आयतन है। यही 'समष्टि-कारण-शरीर' है। जैसे एक बादल है और उस बादलमें एक-एक परमाणु है; जैसे वह बादल और बादलके प्रत्येक परमाणु एक ही चीज हैं, वैसे ही प्रकृति है। वस्तुतः प्रकृतिके परमाणु नहीं होते, केवल समझानेके लिये ही ऐसा कहा गया है। मूलप्रकृतिमें ऐसा अवच्छेद नहीं किया जाता कि जिससे परमाणु माने जायँ। आकाशके भी कोई तो परमाणु मानते हैं और कोई नहीं मानते। पर आकाशका विभाग तो इस रूपमें किया भी जा सकता है कि जैसे आकाशमें सैकड़ों पक्षी उड़ रहे हैं, तो उनमेंसे प्रत्येकने अपने-अपने आकाशके स्थानमें उतने-उतने आकाशका अंश रोक रखा है। समझानेके लिये इसी प्रकार मूलप्रकृतिके लिये भी माना जा सकता है कि जीव मूलप्रकृतिके जिस अंशमें स्थित है, उतना अंश उसका आयतन है, स्थान है या यों कहिये कि उसका कारण-शरीर है। इस प्रकारसे कारणशरीर-सहित 'जीव' प्रकृतिमें रहता है। यदि वह 'कारणशरीर' से रहित हो जाता तो उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती। परमात्माकी प्राप्ति या मुक्ति इसीलिये नहीं होती कि जीव 'कारणशरीरमें' स्थित रहता है। 'कारणशरीर' के अंदर ही 'सूक्ष्मशरीर' है और सूक्ष्मशरीरके अंदर समस्त पाप-पुण्य कर्मोंके संस्कार हैं। पाप-पुण्यके जो संस्कार भोगनेसे शेष रह जाते हैं, उन्हींके फल-भोगके लिये ही प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। जितने कालतक सृष्टि रहती है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। यह नियम है। महाप्रलयके समाप्त होनेके बाद और महासर्गके आदिमें प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभसे हलचल मचती है। हलचल मचनेसे दस कार्य और तेरह करणकी उत्पत्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

(गीता १३ । २०)

'कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष यानी जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ।'

कार्य-करणकी उत्पत्तिमें प्रकृति हेतु कैसे ? इस विषयपर तो विवेचन हो चुका । 'कार्य' हैं दस—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । 'करण' यानी द्वार हैं तेरह—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार । इस प्रकार तेरह और दस मिलाकर तेईस होते हैं । एक 'मूल प्रकृति' को लेकर चौबीस तत्त्व हो जाते हैं । कुछ सज्जन अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार—ये चार भेद मानते हैं, किंतु गीतामें इसके तीन ही भेद बताये गये हैं । योगशास्त्र तथा सांख्यशास्त्रमें भी तीन भेद बतलाये हैं । चित्त और मनको एक ही माना गया है । ये जो तेईस पदार्थ हैं, इन सबका उपादानकारण प्रकृति ही है । इसीलिये यह कहा गया है कि इनका 'हेतु'—'कारण' प्रकृति है । यह तेईस तत्त्वोंका समूह उसका 'कार्य' है । अब सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु 'पुरुष' है, इसपर विचार करना है ।

प्रकृतिमें स्थित जो 'पुरुष' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है । वस्तुतः केवल शुद्ध आत्मामें भी भोक्तापन नहीं है और प्रकृतिमें भी भोक्तापन नहीं है । प्रकृति तो 'जड' है, इसलिये वह भोक्ता नहीं है और केवल आत्मा 'शुद्ध' होनेके कारण उसमें भोक्तापन नहीं है । भोक्ता है—'जीव' । 'जीव' कहते हैं प्रकृति और पुरुषकी एकताको । अतः सुख-दुःखोंका भोक्ता है—प्रकृतिके साथ

****

एकात्मताको प्राप्त पुरुष—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (१३ । २१)। यहाँ जीवको ही 'पुरुष' कहा है। जो प्रकृतिमें स्थित 'जीव' है, वही सुख-दुःखोंका भोक्ता है; केवल शुद्ध आत्मा नहीं।

पातञ्जल-योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने कहा है—'**हेयं दुःखमनागतम्**' (योग० २ । १६) 'आनेवाले दुःख हेय (त्याज्य) हैं।' 'अनागत' उन्हें कहते हैं, जो अभी आये नहीं हैं। जो दुःख आ चुके हैं यानी भूतकालके हैं, उनके त्यागके लिये यहाँ नहीं कहा है; क्योंकि वे तो गत हो गये—बीत चुके। वर्तमान क्षणमें जो दुःख है, वह भी एक क्षणमें ही भूत हो जायगा। उसके लिये भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। पर जो आनेवाले दुःख हैं, उनका त्याग करना चाहिये। अब यह शङ्का होती है कि 'अनागत' दुःखोंका हेतु कौन है ? तो कहते हैं—'**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः**' (योग० २ । १७) 'द्रष्टा और दृश्य यानी चेतन पुरुष और जड प्रकृतिका जो संयोग है—एकात्मता है, वही हेयका हेतु है, उसीसे दुःख होते हैं।' अतः प्रकृतिस्थ पुरुषको ही सुख-दुःख आकर प्राप्त होते हैं। अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'संयोगका हेतु क्या है ? उसका भी तो कोई कारण होना चाहिये ?' इसके उत्तरमें बतलाया—'**तस्य हेतुरविद्या**' (योग० २ । २४) 'उसका हेतु अज्ञान है।' उस अज्ञानका नाश होता है—ज्ञानसे। ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अज्ञानका नाश हो जाता है, अज्ञानका नाश होते ही प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और इस प्रकार जब वे अलग हो जाते हैं, तब सुख-दुःखका भोक्ता कोई नहीं रहता; क्योंकि पुरुष 'कृतकृत्य' हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है—'जब पुरुष कृतकृत्य हो जाता है, तब उसके लिये संसार रहता है या नहीं ?' इसपर कहते हैं—

****

'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।' (योग० २।२२) 'कृतकृत्य' पुरुषकी दृष्टिमें प्रकृति नहीं रहती, अब वह सृष्टि अन्य सर्वसाधारणके लिये होनेसे, जो मुक्त नहीं हैं, उनके लिये रहती है। जो कृतार्थ हो गया, उसके लिये यह संसार नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृतिस्थ पुरुष ही सुख-दुःखोंका भोक्ता है। 'भोक्ता कैसे है?' 'अज्ञानसे।' इसमें अज्ञान क्या है? यह मान लेना कि 'यह देह मैं हूँ तथा यह देह मेरा है।' स्वप्नावस्थामें स्वप्नद्रष्टा मनुष्य जैसे यह मानता है कि 'शरीर मैं हूँ', 'देह मेरा है' आदि; किंतु जागनेपर उसका यह संसार सब समाप्त हो जाता है। तब वह समझता है कि स्वप्नका संसार केवल संकल्पमात्र था, यथार्थमें कोई वस्तु नहीं थी। इतना होनेपर भी स्वप्नावस्थामें तो स्वप्नकी वस्तुएँ सत्य ही प्रतीत होती थीं। इसी प्रकार अज्ञाननिद्रामें जगत् सत् दीखता है। अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार वास्तवमें देखा जाय तो शरीर भी कल्पित है, 'मैं-मेरापन' भी कल्पित है और संसार भी कल्पित है। यह समस्त प्रपञ्च सर्वथा 'कल्पित' है। 'योग' और 'सांख्य' के सिद्धान्तानुसार यह सब जडवर्ग 'परिणामी' है। अन्तःकरणमें जो अज्ञान है, उसीके कारण सुख-दुःखका भोग होता है। 'योग' और 'सांख्य' का कथन है कि वास्तवमें यह शरीर और अन्तःकरण ऐसी चीज नहीं है, जो कल्पित हो। ये हैं, पर हैं परिवर्तनशील— सदा बदलते रहते हैं, इनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर आत्मा मुक्त हो जाता है। 'अद्वैतसिद्धान्त' कहता है कि सम्बन्ध-विच्छेद-जैसी कोई वस्तु नहीं है, यह सर्वथा स्वप्नवत् है, वास्तवमें है ही नहीं।

सुख-दुःखका कौन पुरुष भोक्ता है? इस विषयमें भगवान् कहते हैं—

****

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(गीता १३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष यानी जीवात्मा प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके सत्-असत् यानी अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

संगका अभिप्राय है—आसक्ति और संयोग। सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं। जीवात्माकी इन तीनों गुणोंमें जो प्रीति है और इनके साथ जो सम्बन्ध है, उसीके अनुसार मरनेपर उसे अच्छी-बुरी योनि मिलती है। जिसकी सत्त्वगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह ऊपरके लोकोंमें जाता है; जिसकी रजोगुणमें प्रीति और स्थिति है, वह मनुष्यादि योनिको प्राप्त होता है, एवं जिसकी तमोगुणमें प्रीति और स्थिति होती है, वह नीचेके लोकोंमें—नरकोंमें अथवा कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियोंमें जन्म लेता है। 'सत्' ऊपरकी योनियोंको कहते हैं और 'असत्' नीचेकी योनियोंको। मनुष्ययोनिसे जितनी भी नीचेकी योनियाँ हैं, वे सब 'असत्' हैं तथा मनुष्यसे ऊपरकी जितनी योनियाँ हैं, वे सब 'सत्' हैं। इसलिये जो मनुष्य केवल शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहता है, वह अर्चि-मार्गसे ऊपरको जाकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है; किंतु जिसमें रजोगुणका मिश्रण रहता है, वह धूममार्गसे देवलोकमें जाकर, देवताओंके भोगोंको भोगकर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होता है। अर्थात् ऊपर जानेवाला यदि 'सकामी' होता है तो वह पुनः इस लोकमें आता है; परंतु निष्कामीका पुनरागमन नहीं होता।

यहाँतक यह निर्णय हुआ कि शुद्ध आत्मा भोक्ता नहीं है,

प्रकृतिस्थ पुरुष (जीवात्मा) ही भोक्ता है।

अब यह जाननेकी इच्छा हुई कि पुण्य-पापरूप कर्मोंका कर्ता कौन है ? यदि कहें कि कर्ता प्रकृति है, तो फिर भोक्ता भी प्रकृति ही होनी चाहिये; और यदि कहें कि पुरुष कर्ता है तो कौन पुरुष कर्ता है और उसका वर्णन गीतामें कहाँ किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि कर्मोंके होनेमें गीता पाँच हेतु बतलाती है।

> **पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।**
> **सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥**
>
> (१८।१३)

'हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले 'सांख्यशास्त्र' में कहे गये हैं; उनको तू मुझसे भलीभाँति जान।'

> **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।**
> **विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥**
>
> (१८।१४)

'इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान (आधार) और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव है।'

यहाँ अधिष्ठान (आधार) तो शरीर है। कर्ता यह जीवात्मा है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार ये तेरह भिन्न-भिन्न द्वार (करण) हैं। नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ एवं पाँचवाँ हेतु दैव है। पूर्वकृत संचित शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारका नाम 'दैव' है। कोई दैवका अर्थ 'भगवान्' करते हैं तो कोई 'प्रारब्ध'। इस प्रकार सभी कर्मोंमें ये पाँच हेतु माने गये हैं। इन पाँच हेतुओंसे होनेवाले उपर्युक्त कर्मके

दो भेद होते हैं—पुण्य और पाप। इसके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

शरीरवाङ्मनोभिर्यमत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(१८। १५)

'मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्र-विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों ही कारण हैं।'

इस प्रकार जो भी कर्म होते हैं, उनमें इन पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंकि करनेमें 'शुद्ध आत्मा' को हेतु मान लेता है, यही उसका 'अज्ञान' है। यही मूर्खता है। आत्मा तो वास्तवमें अकर्त्ता है; भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८। १६)

'इस प्रकार होनेपर भी जो पुरुष अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंकि होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थमें नहीं समझता।'

वह वास्तवमें मूर्ख है, उसका समझना यथार्थ नहीं है; क्योंकि वास्तवमें शुद्ध आत्मा तो 'कर्ता' है ही नहीं; बुरे या अच्छे सभी कर्म उपर्युक्त पाँच हेतुओंसे ही बनते हैं। मतलब यह कि जितने भी कर्म बनते हैं, उनमें ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हींसे सारी क्रियाएँ होती हैं।

इस प्रकार प्रकृति-पुरुषका स्वरूप समझ लेनेपर भगवान्‌की कृपासे अज्ञानका नाश हो जाता है और शुद्ध आत्मामें अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका निश्चय होनेसे वह समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

——::×::——

लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाका कानून बनाता है उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी। धन्य है, उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

'भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा' नामक पुस्तकसे

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं। इसमें अपना क्या वश है। कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता। वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं। दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे। वैद्य बारम्बार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे। परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है। न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है। फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये।

'अमूल्य शिक्षा' नामक पुस्तकसे

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेसकी निजी दूकानें

		☎
१.	गोविन्दभवन-कार्यालय १५१, महात्मागांधी रोड, कलकत्ता-७००००७	२३८६८९४
२.	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, २६०९, नयी सड़क, दिल्ली-११०००६	३२६९६७८
३.	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, अशोक राजपथ, पटना-८००००४	
४.	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, २४/५५, बिरहाना रोड, कानपुर-२०८००१	३५२३५१
५.	गीताप्रेस, पेपर एजेन्सी, ५९।९, नीचीबाग, वाराणसी-२२१००१	५७१५१
६.	गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, सब्जीमण्डी मोतीबाजार हरिद्वार-२४९४०१	
७.	गीताभवन, गङ्गापार, स्वर्गाश्रम-२४९३०४	३०१२२

गीताप्रेसकी स्टेशन स्टालें

१-दिल्ली जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १; २-नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८।९; ३-अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा (दिल्ली); ४-निजामुद्दीन (नयी दिल्ली), प्लेटफार्म नं० ४-५; ५-कोटा (राजस्थान) प्लेटफार्म नं० १; ६-कानपुर, प्लेटफार्म नं० १; ७-गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १; ८-वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ३; ९-हरिद्वार, प्लेटफार्म नं० १; १०-पटना, पुस्तक-ट्रॉली, प्लेटफार्म नं० १; ११-हावड़ा, प्लेटफार्म नं० १८के पास; १२-मुगल सराय जंक्शन, प्लेटफार्म नं० ३-४।

अन्य अधिकृत पुस्तक-विक्रेता

श्रीगीताप्रेस, पुस्तक प्रचार केन्द्र, फोन : ५६३३७९
"बुलियन बिल्डिंग", जौहरी बाजार, जयपुर—३०२००३